
❀ संपादकीय ❀

गत २०३२ साल कार्तिक ९-१०-११ में वृहद् आध्यात्मिक परिषद शाखा नेपाल-धरान में वैदिक सनातन हिन्दू धर्म गोष्ठी-गीता भवन के आयोजन में श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय और वृ.आ. परिषद शाखा के विशिष्ट विद्वानों ने मिलकर धार्मिक विषय में धीर-गंभीर अध्यात्म ज्ञान के प्रकाश को उजागर किया। तत्पश्चात् उपर्युक्त शाखा द्वारा 'विवरण पत्र' नामक पुस्तक का प्रकाशन करके प्रचार-प्रसार शुरू किया गया। उस पुस्तिका में श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के प्रति विभिन्न अनर्गल प्रश्न तथा शंका-उपशंकाएँ रखी गयी थीं। इसी कारण से श्री कृष्ण प्रणामीजनों द्वारा उक्त प्रश्नों तथा शंका-उपशंकाओं के निवारणार्थ प्रेम वार्तावत् जिज्ञासु तथा प्रश्नकर्ता लेखक, महानुभावों को इस 'विवरण पत्र की समीक्षा' नामक पुस्तक द्वारा अवगत कराया गया है।

आज के वैज्ञानिक भौतिक युग में आत्मीयता तथा एकता के निमित्त मानवतावादी उद्घोष भी एक धार्मिक साहित्य ही है। इस साहित्य से समाज में एकता, प्रेम, सद्भावना, आत्मविश्वास तथा भाईचारे की भावना उत्पन्न कर उत्कृष्ट एवम् उन्नत बनाने का पाठ सिखाकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कथन को सार्थक किया जा सकेगा। इन्हीं साहित्य, शास्त्रादि द्वारा ही आज हम सब भगवत्स्वरूप का भी प्रतिपादन करने में सक्षम अथवा सामर्थ्यशाली बने हैं। प्रत्येक साहित्य में गुणों की प्रशंसा और दोषों का खण्डन अवश्यमेव होता ही है। ऐसे विषयों की सार्थकता भी इस पुस्तक में प्रदान की गई है।

‘श्रेयांसि बहु बिघ्नानि’ की-सी परिस्थितिवश इस पुस्तक को जिस प्रकार से पूर्ण होना चाहिये था, उस तरह पूर्ण नहीं हो पायी है। यदि कुछ समय अधिक प्राप्त हुआ होता, तो यह पुस्तक विशाल रूप ले पाती थी। परन्तु इसके द्वारा भी धर्म के प्रति पूर्ण प्रकाश किया गया है। आवश्यकता पड़ने पर ऐसी और भी पुस्तकें प्रकाशित होती रहेंगी।

इस पुस्तक को प्रकाशित कर यश प्राप्त करने का श्रेय श्रीमन्निजानन्द धर्म सिद्धान्त के आद्य धर्मपीठ श्री ५ नवतनपुरी धाम को ही जाता है। इस पुस्तक का प्रकाशन ‘सन्त सभा-श्री ५ नवतनपुरी धाम’ जामनगर द्वारा हुआ है। कतिपय लोगों का ऐसा कहना था कि इस पुस्तक का प्रकाशन काठमांडौ से ही होना चाहिये था, तो कतिपय का कहना था कि मूल धर्मस्थान से ही प्रकाशित होना योग्य लगता है। अन्त में परमपावन आद्य धर्मस्थान श्री ५ नवतनपुरी से ही प्रकाशन किया गया। इस पुस्तक का तो शायद जन्म ही नहीं हुआ होता, किन्तु ‘अतिशय रगड़ करे जो कोई, तो अनल(आग) प्रगट चन्दन से होई।’ ‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’ की तरह ही अति होने पर विशाल सहनशक्ति की ही आवश्यकता होती है। अतः अत्यधिक अनर्थ के कारण ही इस पुस्तक ने जन्म लिया है। वैदिक सनातन पक्ष के विद्वतवर्ग और श्री कृष्ण प्रणामी संप्रदाय के विद्वतवर्ग-इन उभय पक्ष के विद्वानों के बीच समझौता और हस्ताक्षर होने के पश्चात् भी वैदिक सनातन पक्ष के विद्वानों ने श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के प्रति बदबूवत् बकवास और झूठा प्रचार-प्रसार करना ही नहीं छोड़ा। इसी कारण से ‘विवरण पत्र की समीक्षा’ का जन्म हुआ है। अन्यथा प्रणामी धर्मानुयायी कहाँ तक

शान्तिप्रिय हैं, इस विषय की यथार्थता भी इस पुस्तक द्वारा ही स्पष्ट हो जायेगी।

पण्डित श्री दीनदयाल अधिकारीजी के मीठे-मधुरातिमधुर, सरल भाषा में लिखे हुए लेख पाठकवृन्द के हृदय में जमे शंका-उपशंकारूपी काले बादल सदृश धुँधलेपन अथवा धुँएँ को निर्मूल कर अवश्यमेव ही उनके दिल-दिमाग में उज्ज्वल-प्रकाशयुक्त परिवर्तन जरूर करेंगे और उभय पक्ष में एकता कायम करेंगे, ऐसी आकांक्षा रखी गयी है।

अन्त में श्री कृष्ण प्रणामी संरक्षण समिति, शनिश्चरे, झापा भी धन्यवाद का पात्र है, जिसने श्री बलिदास बस्नेतजी को आसाम भेजकर आसाम की सभी यथा तथ्य बातें जानकर-समझकर वहाँ (आसाम) की पञ्चायत और अग्रगण्य मान्य व्यक्तिजनों सहित स्वयं शिवलिङ्ग के पुजारी द्वारा फोटो सहित प्रणामी धर्म के प्रति शिवलिङ्ग और शालग्राम, तोड़ने का झूठा आरोप-आक्षेप लगायी हुई बातों का सप्रमाण बयान लिखित रूप में लाकर यहाँ नवतनपुरी भेजा। अतः श्री बलिदासजी को इस कार्य हेतु धन्यवाद ज्ञापन करते हैं। साथ ही निर्विघ्नतापूर्वक मुद्रण कार्य पूर्ण करने हेतु प्रबन्धक श्री राजेन्द्र पोखरेल भी धन्यवाद के पात्र हैं। पुनः पं. राजेन्द्र आचार्य, पं. माधव आचार्य, पं. भुवन आचार्य ने भी अनुलेखन कार्य में अपना सहयोग पहुँचाया है। अतः उक्त सभी महानुभावों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं। दृष्टि और मुद्रण कार्य में त्रुटि रहना स्वाभाविक ही है। अतः इस विषय में पाठक सज्जनवृन्द सुधारकर पढ़ने की कृपा करें, ऐसा अनुरोध करते हैं।

❀ सद्दिचार ❀

महानुभाव विद्वतवृन्द एवम् वाचकवृन्द !

निखिल विश्वात्माएँ मायावी संसार के बीच होते हुए भी स्वतः उनकी आत्मा भी परमात्मा के प्रति आत्मीयता और आस्था का अस्तित्व लेकर ही आती हैं और चाहती भी हैं। सर्व अन्तर्यामी परमात्मा सम्बन्धी चेतन-आत्मा को अपना मूल केन्द्र प्राप्त कर उस गन्तव्य स्थान में पहुँचने हेतु ही सृष्टि के आद्य अर्थात् मूलतः ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है और उसी ज्ञानाधार युगानुकूल साधन द्वारा अपनी आत्मा को साध्य परमात्मा के सन्निकट पहुँचाने जैसे आचरणों को हृदयाङ्गम कर, प्रयत्नशील होकर आत्म-साधन मार्ग पर चलने का नाम ही 'धर्म' है। सृष्टि के आद्यकाल से ही समस्त मानवात्माओं को एक सूत्राधार एकीकरण रूप में आबद्ध करानेवाले उपदेशात्मक ज्ञान को ही आप्तोपदेशकों-आप्तपुरुषों ने वेद, शास्त्र, पुराणादि में दर्शाया है। यसर्थ अखिल विश्वात्माओं के आद्यकाल के मतानुकूल पुनः युगानुकूल धारणीय साधन द्वारा ही स्वात्मा की आस्था को फलीभूत कराने का अभिप्राय लेकर चलने के कारण ही तत्त्वज्ञ उदारवादी विभिन्न ऋषि-महर्षियों के शास्त्र, पुराणादि के वचन निर्णयात्मक रूप में जीवित हैं। जैसे-

**यथानद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥**

- (मुण्डकोपनिषद्, ३/२/८) ।

अर्थात् जिस प्रकार गंगादि विभिन्न नदियाँ बहते-बहते समुद्र में पहुँचकर नाम, रूप आदि संकीर्णता छोड़कर अविशेष (बिना

किसी फरक के) जब आत्म स्वरूप (महासागर) भाव प्राप्त करती हैं। उसी प्रकार जब तक अविद्या के कारण विभिन्नता का परित्याग कर मानव-मानव में एकता, समन्वयात्मक आचरण और व्यवहार नहीं होता, तब तक अखण्ड सुख-शान्ति प्राप्त करना दुर्लभ है। साथ ही साथ विद्वत्ता द्वारा प्राप्त होनेवाले परात्पर दिव्य पुरुष स्वरूप परमात्मा की सन्निकटता को प्राप्त करने का ध्येय मात्र कल्पना ही रह जाता है। पुनः धर्म तत्त्व तो गहनशील है ही। इसी कारण कहा भी गया है कि -

‘धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् ।’

मानव के लिए स्वजन्म की सफलता को हासिल करने हेतु केवल धर्म-सेवा ही उत्कृष्ट हैं। यथा-‘मनुष्य जन्म साफल्यं केवलं धर्म सेवनम्’-स्वधर्माचरण में रहकर जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है, जैसे-‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः’।

कोई भी धर्म मार्ग-सिद्धान्त बिना मूलाधार के नहीं होता। इस बात का अविकल्प ज्ञान सभी सुज्ञजनों में मुख्य रूप से होता ही है। मानवजनों द्वारा परस्पर ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की विशुद्ध भावना को अपनाकर धार्मिक विषय-वस्तुओं के प्रति विचार-विमर्श करना ही प्रेम और सद्भावना के मार्ग को अपनाना है। समाज, देश-नरेश साथ ही साथ स्वात्मा कल्याणार्थ पुनः मानव द्वारा जिस कर्म-व्यवहार को करने से संपूर्ण संसार के प्रति ही एक घर-परिवार सदृश भाव उत्पन्न हो जाए, ऐसे कार्य करते हुए घर-परिवार को ही सभ्य बनाने की भावना रखना ही मानव मात्र का कर्तव्य है। भगवान श्री कृष्णजी ने कहा है-‘समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः’ अर्थात्

सब भूत प्राणियों में मैं सम भाव से देखता हूँ । किसी में द्वेष आदि नहीं रखता । परस्पर द्वेष-ईर्ष्या का भाव रखकर किसी का किसी के प्रति आलोचना करना ही ज्ञान से हाथ धोकर अनर्थ में प्रवेश करना और विषय-वस्तु का परित्याग कर आपस में वैमनस्यता की वृद्धि करना अथवा बढ़ावा देना है ।

विशेषकर आपस में एक-दूसरे के धर्म सिद्धांत और मान्यताओं के प्रति वाद-विवाद कर अश्रद्धा एवम् कटुतापूर्ण वचन का व्यवहार करना, अतः उभय पक्ष के धर्मजनों की आपसी अल्पज्ञता से ही इस प्रकार के आकाश-पुष्पवत् वितण्डावाद की सृजना होती है, स्पष्ट ही है । इससे धर्मतत्त्व का निर्णय करने के विषय में उदार पक्ष का अस्तित्व तो नहीं के समान ही दिखाई देता है । अतः आपसी वैमनस्यता सहित ब्रह्मतत्त्व का नामरूपी आधार लेकर स्वमत सिद्ध करने की ओर अन्धाधुंध दौड़-धूप करने पर वास्तविक तथ्य अथवा विषय-वस्तु किस धरातल में पड़ी रह जाएगी, इस विषय में उभय पक्ष धर्मवत् विचार-विवेक करेंगे, इस प्रकार का ध्येय रखा गया है । - इति शुभमस्तु !

शुभचिन्तक -
बाबाजी श्री लक्ष्मीदासजी,
श्री ५ नवतनपुरी धाम,
जामनगर-गुजरात ।

❀ अनुभूमिका ❀

विचार-विवेकशील सज्जनवृन्द !

निखिल आत्माएँ आज बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक विचार-विमर्शवत् स्वच्छ, शान्त, सभ्य एवम् उभय पक्ष (लौकिक-पारलौकिक) की आस्था से पूर्ण एवम् आशावादी होकर जीवित हैं। अतः सर्वात्माओं का अन्तःकरणस्थ ध्येय एकता समन्वयात्मक सूत्र से प्रभावित है। यह बात प्रत्यक्ष व्यवहार क्षेत्र में स्पष्ट दिखाई दे रही है कि सुख, शांति और आनन्दमय जीवन द्योतक वर्तमान, इच्छामय उद्योग द्वारा भविष्य की ओर इशारा कर रहा है। प्रत्यक्ष व्यवहार में निराश मनुष्यात्माएँ भी भविष्य के प्रति आस्थापूर्ण और आशावादी होकर ही जीवित रहती हैं। धर्म के प्रति की आस्था ही यदि कर्मक्षेत्र का आधारभूत न होती, तो कर्मक्षेत्र स्पष्टरूपेण व्यवहार शून्य हो जाता।

वर्तमान युग में देशान्तर्गत व्यक्ति-व्यक्ति में संगठन, सर्वात्माओं के प्रति सद्भावना की अत्यन्त ही आवश्यकता होने के कारण और जानते-जानते भी 'श्रेयांसि बहु बिघ्नानि' को सार्थक सिद्ध करने के लिये छोटे-छोटे विषयों को लेकर वितण्डावाद की सृजना करना, समाज में घृणित भावनामय अपवाद फैलाना, परस्पर कटुता उत्पन्न कराना सुज्ञजनों का कर्तव्य नहीं माना जाता है। कतिपय विषयादि ऐसे होते हैं, जिसके कारण संगठित एवम् शान्तिप्रिय जनों के जीवन में भी हठात् भूकम्पवत् खलल ताण्डव उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारणवश शान्तिप्रिय मौन को भङ्ग करते हुये खलल उत्पन्न करनेवाले वातावरण के सामने खड़े होने के प्रति बाध्य होना पड़ता है।

वस्तुतः गत २०३३ में प्रकाशित की गयी 'विवरण पत्र' नामक पुस्तिका ही उक्त विषयों का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उक्त पुस्तिका के फलस्वरूप ही 'विवरण पत्र की समीक्षा' नामक पुस्तिका का जन्म हुआ है। यदुपरांत विचार-विवेकशील वाचकवृन्द से सविनय अनुरोध किया जाता है कि एक हाथ में 'विवरण पत्र' और दूसरे हाथ में 'विवरण पत्र की समीक्षा' नामक पुस्तक लेकर सदसत् विवेचन करें, पढ़ने का कष्ट करें और यथा तथ्य अनुकरणीय निष्कर्ष के साथ-साथ मिथ्या आरोप-आक्षेप आदि का कारण भी अवगत कर ही लेंगे, ऐसी आशा भी करते हैं।

अतः वाचकवृन्द की सेवा में उदाहरणीय तीन कांड जो प्रत्यक्ष हो गये हैं। जैसे - १) आसाम-बेराजन कांड २) शनिश्चरे कालिस्थान कांड और ३) धरान, वैदिक सनातन हिन्दू धर्म गोष्ठी कांड। उक्त तीन काण्डों से श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्तानुयायी बन्धुजन कितने अंश तक शांतिप्रिय हैं इसका निर्णय करने का कार्य समाज पर ही छोड़ दिया जाता है। इस चौथी बार के 'विवरण पत्र' के प्रकाशन ने किस तरह शान्तिप्रिय धर्म सिद्धान्त को भी अशांतिवादी-वितण्डावाद का सामना करने में बाध्य कर दिया, इस बात को 'विवरण पत्र की समीक्षा' द्वारा स्पष्टरूपेण अवगत करायेंगे, इसमें कोई शङ्का नहीं है।

यसर्थ यह पुस्तिका कतिपय अंश में दिल-दिमाग को चौंका देगी, परन्तु उन लोगों को, जिन्होंने 'विवरण पत्र' पुस्तिका पढ़ी ही नहीं होगी। इस पुस्तिका का मुख्य ध्येय धर्म सिद्धान्त के ऊपर अप्रामाणिक आक्षेप और आरोपों का सप्रमाण मर्दन करना है। जब

धर्म सिद्धान्त ही 'अदार्शनिक' दृष्टि में आता है, तो वैसी दृष्टि को सप्रमाण सिद्धान्त बोध कराना अवैदिक, अहिन्दू एवम् अधर्म तो नहीं होगा न? यसर्थ इस सिद्धान्त अन्तर्गत की मान्यता यथावत् प्रदर्शित करने के साथ ही विभिन्न शङ्का एवम् प्रश्नादि और आम जनता में प्रचार-प्रसार किये हुए कपोल-कल्पित आरोप-आक्षेपादि का निवारण, जवाब देने तथा मुख मर्दन करने के साथ ही शांतिप्रिय मौनता का परित्याग करके आगे बढ़ना भी विभिन्न धर्मों से मुख्य ही माना गया है। जैसे- 'स्वधर्म निधनं श्रेयः' अधर्म भी धर्म का ही नाम लेता है, तो धर्म तो स्वतः सत्य धर्म से सिद्ध विभूषित है ही !!

अन्त में यदि इस पुस्तिका द्वारा भी शङ्का आदि का निवारण नहीं हुआ अथवा निजानन्द सिद्धान्त के प्रति अदार्शनिक, अवैदिक और अहिन्दुत्वता का खुलासा नहीं होता, तो श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त उक्त विषयादि के प्रति एक-दो बार ही नहीं, कइयों बार भी सिद्ध करके समझाने में पीछे नहीं हटेगा, अपितु जिज्ञासुओं द्वारा चाहना प्रकट किये जाने पर! परन्तु वितण्डावादमय अयोग्य शास्त्रार्थ हेतु कदापि नहीं, जैसे-उक्त कथित तीन काण्ड की तरह!! अतः मात्र सात्विकतापूर्ण आयोजन द्वारा ही विषय-वस्तु का निर्णय मानते और जानते भी हैं। तामस-राजसपन में षड्यन्त्रवत् शामिल होना, वह भी धर्म सिद्धान्त और ब्रह्मतत्त्व विषय को लेकर! ऐसे शास्त्रार्थ को तो जघन्य अपराध ही समझते हैं।

इस पुस्तिका में स्व-सिद्धान्त पर लगाये हुए आरोपित विषयादि, जैसे-सिद्धान्त प्रति कही व लिखित अदार्शनिक, इष्टदेव

प्रति काल्पनिक, सिद्धान्तानुयायियों को भी अवैदिक, अहिन्दू सिद्ध करने के षड्यन्त्रपूर्ण प्रयत्नों मात्र की समीक्षा की गयी है। वह भी जितनी करने योग्य थी, उसमें से थोड़ी-अल्प मात्रा ही! सिद्धान्त और सैद्धान्तिक ध्येय का सूक्ष्म दिग्दर्शन कराकर शांति का आह्वान किया गया है। उपरान्त प्रयोजनानुसार प्रतीक्षा में हमेशा ही तत्परतापूर्वक प्रेम से कटिबद्ध रहेगा।

- इति शुभमस्तु !

प्रार्थी :-

पं. श्री दीनदयाल अधिकारी

श्री कृष्ण प्रणामी मंदिर,

धरान - १०



❀ प्रत्यक्षावगत ❀

गते २०३२ साल के कार्तिक महीने के दिनांक ९-१०-११ के निर्णय के पश्चात् भी वैदिक सनातन हिन्दू धर्म गोष्ठी द्वारा प्रकाशित 'विवरण पत्र' नामक पुस्तिका के भूमिका शीर्षक अन्तर्गत लिखित और पेश की गई नामावली में किए गए राजनैतिक धूर्ततापूर्ण षड्यन्त्र का आश्रय लेकर धर्म नीति के प्रति जघन्य अपराधयुक्त छल, कुभावनाग्रस्त धूर्ततापूर्ण युक्ति द्वारा आम जनता की मनोभावना को अपने कुकृत्य के समर्थन की ओर खींचने के स्पष्टीकरण को 'विवरण पत्र की समीक्षा' नामक पुस्तिका के प्रारम्भ में ही प्रत्यक्ष करा देना अनुचित तो नहीं होगा न? कारण-उक्तं च

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

जो धर्म का हनन (पतन) करता है, वह अकाट्य अवश्यमेव ही नष्ट हो जाता है। जो धर्म का रक्षक बनकर धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसी की रक्षा करता है। यसर्थ हे मानवात्माओं! स्वधर्म का अच्छी तरह से पालन करो। धर्म-भक्षक मत बनो। विश्वास है कि धर्म का वध नहीं करोगे।

'विवरण पत्र' के पेज नं. १६९ में उल्लिखित सदशास्त्र प्रमाण-वचनों को स्व-हृदयान्तर से ही अपनाया होता, तो हम आप लोगों को बारम्बार धन्यवाद-साधुवाद देते थे। श्री कृष्ण प्रणामी धर्मान्तर्गत हम शुद्ध हिन्दू लोगों में स्वदेश नायक राजा प्रति मात्र भगवान के अवतार नहीं, अपितु भगवान के दशांश कलावताररूप में प्रमाणवत् मान्यता है। अतः श्री कृष्ण प्रणामी धर्मावलम्बीजन तो

श्री कृष्ण को “नराणां च नराधिपम्.....।”-गीता प्रमाणानुसार विभूति स्वरूप मानते हैं और अप्रामाणिक थोथे-तोते दन्त कथावत् बातों को अकाट्यरूपेण अमान्य मानते हैं।

अतः स्वर्गवासी श्री ५ महाराजाधिराज महेन्द्र वीर विक्रम शाहदेव सरकार एवम् वर्तमान राष्ट्र नायक श्री ५ महाराजाधिराज वीरेन्द्र वीर विक्रम शाहदेव सरकार के साथ-साथ उनके द्वारा सर्वोच्च सर्वमान्य पद पर विभूषित धर्म धुरन्धर, धर्मज्ञ संपूर्ण अधिराज्य की जनता के प्रति “वसुधैव कुटुम्बकम्”- “सर्वभूतहिते रताः”सदृश महानातिमहान् सिद्धान्तवाद युक्त समदृष्टि रखनेवाले महान् पद पर विभूषित ‘नायब’ बड़े गुरुजी श्रीमान् जुनानाथजी पण्डितजी, धर्मानुरागी राजसभासद भू. पू. मन्त्री श्री भूपालमान सिंह कार्कीजी एवम् उदार धर्मभावनाशील भू. पू. मन्त्री श्री नगेन्द्र प्रसाद रिजालजी जो नेपाल राष्ट्र के ऊँचे-ऊँचे पदों पर विभूषित हैं तथा नेपाल अधिराज्य की आम जनता के सिर पर सर्वोच्च राजमुकुट रक्षकरूप हैं। उक्त जनों की छत्रछाया में हम सम्पूर्ण हिन्दू समाज अपने आप को अहोभाग्यशाली एवम् गौरव-सम्पन्न मानते हैं।

२०३२ कार्तिक के दिनांक ९-१०-११ में आयोजित किये गए ‘वृहदाध्यात्मिक परिषद शाखा धरान’ की वैदिक सनातन हिन्दू धर्म गोष्ठी में उक्त महानुभावों की अनुपस्थिति में उक्त जनों को माध्यम बनाकर ‘जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः’-सा अपराधयुक्त कदम चलने में आया है।

पुनः आज दो साल के पश्चात् सम्पूर्ण हिन्दू आम समाज में विश्व कल्याणकारी वैदिक उद्धार भावना के प्रचार-प्रसार के बहाने

धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिकता के आश्रयभूत “विश्व-शान्ति” का नारा लगाते हुये ‘मुँह में राम-राम, बगल में छुरी’ कथन रूप यह ‘विवरण पत्र’ नामक पुस्तिका का ध्येय, क्या विश्व-शान्ति ही है ? या देश-क्रांति ?

‘विवरण पत्र’ पुस्तिका का मुख्य उद्देश्य, जो “वसुधैव कुटुम्बकम्” को आधारभूत बनाकर राष्ट्रीय एकता, समन्वयता, धर्म सहिष्णुता एवम् राष्ट्रीयता कायम कर रहे उक्त महानातिमहान् दृष्टियुक्त व्यक्तियों में भी कपोल-कल्पित निराधार मिथ्यापवाद यहाँ तक कि “अवैदिक, अहिन्दू” जैसे आरोप प्रत्यारोपित कर राष्ट्र में दूषित धुआँ-बादल फैलाते हुए पुनः उक्त महानुभाव की दीर्घ दृष्टि को भी दूषित करने का प्रयत्न करना ही है, यह बात ‘विवरण पत्र’ नामक पुस्तिका के पन्ने पलटने से ही प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है। वृहदाध्यात्मिक परिषद के तत्वावधान में उपस्थित न हो सकने के कारणयुक्त भेजी गयी शुभकामना प्रकट किये हुए पत्र में से ही उक्त उच्च भावनाशील महानुभावों के मन्तव्य स्पष्ट रूपेण अनुमानित किए जा सकते हैं। पुनः उक्त महानुभावों की नामाङ्कित परिपाटी द्वारा जनसाधारण सीधे साधे, बाल-वृद्ध में ‘विवरण पत्र’ पुस्तिका में लिखित चली हुई चाल का समर्थन करने के तरीके से भी राजनैतिक षड्यन्त्र की गुत्थी स्पष्ट अवगत होती है। इस प्रकार की चतुराई से प्रशस्त रूपेण प्रभावित करके अपना उल्लू सीधा करने की इस चाल प्रति सीधा सादा आम समाज प्रत्यक्ष प्रमाण रूप में जीवित है।

उक्त पुस्तिका में कपोल-कल्पित मिथ्यापवाद युक्त रचे

गये नाटक के प्रतिफल स्वरूप पुण्य का हिस्सेदार कौन ? कारण “अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्” अर्थात् शुभ-अशुभ कर्मजन्यफल अवश्यमेव ही कर्म करनेवाले को भोगना पड़ेगा। इस विषय में अपना उल्लू सीधा करने हेतु धूर्ततापूर्ण किए गए षड्यन्त्र का दृष्टान्त ‘विवरण पत्र’ नामक पुस्तिका की भूमिका पर नजर डालते ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि कैसे-किस प्रकार राजनीतिक षड्यन्त्रवत् जाल बिछाया गया है ? अफसोस ! स्व.श्री ५ महाराजाधिराज महेन्द्र वीर विक्रम शाहदेव के नाम द्वारा शुरूआत करके वर्तमान श्री ५ महाराजाधिराज वीरेन्द्र वीर विक्रम शाहदेव सरकार के नाम में अन्त किया गया है। इस प्रकार उभय महाराजाधिराजों के नाम के माध्यम से पेश किये गये विषयों की षड्यन्त्रपूर्ण शकुनि चाल के यथा तथ्य प्रतिशत को मात्र पाँच जन ही समझ सकते हैं और बता सकते हैं कि उक्त उभय नामों को माध्यम बनाकर रचे गए कपोल-कल्पित मिथ्यापवाद किनके मस्तिष्क की उपज है ? उक्त प्रकार से कल्पित मिथ्यापवाद को उभय नामों की आड़ लेकर जनसाधारण में पेश करने के युक्तिपूर्ण ध्येय को अत्यन्त रोचक वैदिक उदाहरणीय माना जाता है। यह षड्यन्त्रपूर्ण युक्ति किसकी है ? यह कौन-सी नीति है ? चाणक्य नीति है या शकुनि नीति ?

इस प्रकार के अपराधपूर्ण कुकृत्य में निरपराधी भोले-भाले साधारण व्यक्तियों को शामिल करना, क्या यही वैदिक सिद्धान्त है ? पुनः क्या इस प्रकार उठाये गये कदम को ही वैदिक धर्म मानते हैं ? यसर्थ उक्त उभय महानुभावों की उदार मनोभावना और इन

नाटककारों द्वारा आगे बढ़ाये हुए कदम के प्रतिफल ही इस 'विवरण पत्र की समीक्षा' नामक पुस्तिका का जन्म हुआ है। अतः

‘आत्मा खलु विश्वमूलम्’

अर्थात् आत्मा ही विश्व का मूल है। ‘स्व स्वधर्मरताः सर्वे सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः’ अपने-अपने धर्म में रत सभी मानव अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं।

उक्त प्रामाणिक महावाक्य अपनाकर चलनेवाले व अपनी विशाल दीर्घदृष्टि द्वारा निखिल विश्व के प्रजा संरक्षक महानुभावों में से भी उच्चातिउच्च सर्वोच्च राजमुकुट विभूषित स्व. श्री ५ महाराजाधिराज और वर्तमान श्री ५ महाराजाधिराज वीरेन्द्र वीर विक्रम शाहदेव सरकार द्वारा धर्म और शान्ति स्थापित करने के सम्बन्ध में घोषित एवम् संचालित की जा रही फूलवारी में धर्म सिद्धान्त पर लाञ्छना आरोपित कर अशान्ति की सृजना करने का असोच्य उद्योग उमड़ रहा है।

‘विवरण पत्र’ नामक पुस्तिका द्वारा वैदिक को अवैदिक, हिन्दू को अहिन्दू, मान्य इष्टदेव को काल्पनिक और पूज्य धर्मग्रन्थ को बहिष्कृत करने के धृष्टतापूर्ण प्रयत्न जैसी विरोधी घोषणा के आने के कारण ही “वैदिक शुद्ध सनातन हिन्दू धर्म” के अन्तर्गत चले आ रहे “सर्ववेदांतसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः”-प्रमाणवत् पूर्ण सर्वदेशी सिद्धान्त की मान्यता को समाज के आगे प्रकट करने में श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त ललकारते हुए सीना तानकर-छाती चौड़ी करते हुए “शनैः शनैः गम्यताम्” (गम खाकर आगे बढ़ने) के प्रयोजनानुसार कदम उठाकर जरूर

छलाँग लगायेंगे क्योंकि-

सम्पूर्ण कुम्भो न करोति शब्दम्

अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम् ।

विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वम्

जल्पन्ति मूढास्तु गणैर्विहीनाः ॥

वस्तुतः यहाँ सर्वप्रथम सर्वमान्य नायब बड़े गुरुजी श्री जुनानाथ पण्डितजी द्वारा भेजी गयी शुभकामना में ऐसा उल्लिखित किया गया है कि- “जहाँ तक मैंने सुना है कि तुलसी मठ, शिव मंदिर, कृष्ण मंदिर आदि तोड़-फोड़ करते हैं, गौ के गोबर में अपवित्र बुद्धि रखते हैं। अतः यदि ऐसा ही है, तो यह सम्प्रदाय वैदिक शाखा के अन्तर्गत नहीं है, यह स्पष्ट है।”

उक्त उल्लिखित शब्दों से यह स्पष्ट ही झलकता है कि निराधार आरोपित प्रचार में सफलता प्राप्त करने हेतु षड्यन्त्रकारी कैसे और कहाँ तक आगे बढ़े हैं। पुनः यह भी स्पष्ट होता है कि सुनी-सुनाई अनिश्चित बातों की छान-बीन कर निर्णयात्मक निचोड़ निकालने की जिम्मेदारी किसके सिर पर थोप दी गई? अतः उनकी विराट, विशाल दीर्घदृष्टि में कैसे आँच आ सकती है?

अतः क्या वे पूर्वगामी तीन सौ साल से सर्वदेशी रूप में प्रचार-प्रसार होते आए धर्म सिद्धान्त को ‘अवैदिक’ कहते हुए कूदने और ‘अहिन्दू’ कहकर नारा लगाते हुए दौड़ने के स्थान में विभूषित नहीं हैं? वे तो बड़े नायब राजगुरुजी के सर्वमान्य सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। पुनः वे भौतिकवाद के उन्नतशील उच्च-उच्च पदों पर पहुँचे हुये राजसभासद भू. पू. श्री भूपालमान सिंह कार्कीजी और

भू.पू. प्रधानमंत्री श्री नगेन्द्र प्रसाद रिजालजी द्वारा अध्यात्मवाद का निर्णयात्मक अधिकार अध्यात्मवाद के विशिष्ट धुरन्धर धर्मज्ञजनों के सिर पर ही देते हुए निष्पक्ष निर्णय की उदार भावनायुक्त शुभकामना प्रकट करनेवाले शुभकामना पत्र को माध्यम बनाकर उन्होंने इस कुकृत्यरूपी नाटक का स्वयं समर्थन किया है अथवा अध्यात्मवाद के विशिष्ट धर्मज्ञजनों के सिर पर दिया है, क्या यह कोई नहीं समझ सकती ? इस कुकृत्य-जघन्य अपराध का फल तो 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' प्रमाणवत् करने-करानेवालों के सिर पर ही मँडराएगा ।

‘विवरण पत्र’ के प्रत्येक पृष्ठ पर हम देख सकते हैं कि अराष्ट्रीयता, एकता समन्वय के बाधक तथा धर्म असहिष्णुता जैसे मर-मसालों का इस पुस्तक में किस प्रकार ‘अवैदिक-अहिन्दू’ ध्येय-पूर्ति हेतु स्वाद बढ़ानेवाली खट्टी-मीठी स्वादिष्ट सामग्री के रूप में प्रयोग किया गया है। उक्त मर-मसालों को हम वितण्डावादर्पणी तीन काण्डों द्वारा ही अवगत कर सकते हैं। १) आसाम बेराजन काण्ड २) कालिस्थान काण्ड और ३) धरान गीता भवन काण्ड। यदि श्रीमन्निजानन्द-प्रणामी बन्धु उक्त स्वादिष्ट गुणवाले होते, तो उक्त काण्ड में अन्यान्य ही काण्ड होते थे। उपरोक्त गुण यथा तथ्य कहाँ-किस समाज में मिलते हैं, यह निर्णय करने का यह कार्य विवेकशील जनों की नजर में प्रत्यक्ष ही है। कतिपय निष्पक्ष धर्मज्ञ जनों को अवगत कराने हेतु भी इस विषय में “प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्”, अत्युक्ति क्यों ?

- शुभमस्तु!



एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधाऽवभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

। श्री कृष्ण परब्रह्मणे नमः ।

❀ विवरण पत्र की समीक्षा ❀

वन्दे ब्रह्माद्वयं साकं सच्चिदानन्दशक्तिभिः ।
याभिः सर्वत्र कर्तृत्वं सर्वज्ञं सर्वगं समम् ॥
आचारसेवनस्येह बुद्धिशुद्धि परं फलम् ।
शुद्धायां च ततोबुद्धौ लीलाध्यानेऽर्हतां व्रजेत् ॥



दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥

जिज्ञासु-पिपासु विवेकशील सज्जनवृन्द !

उक्त प्रमाण मुण्डकोपनिषद् 'अथर्ववेद की शौनकी शाखा'
में है। इसे वहाँ देखा जा सकता है। अर्थ निम्न प्रकारेण है।

अर्थ: दिव्यः - दिव्य पुरुष स्वरूप, अमूर्तः - प्राकृत मूर्ति
से रहित, पुरुषः - पुरुषाकार, सः - वे परमात्मा, बाह्य आभ्यन्तरः-
बाह्य-चतुष्पाद विभूति युक्त अक्षर, आभ्यन्तर शक्तिसमूह 'सर्व
खल्विदं ब्रह्म' रूप में सर्वत्र, हि-निश्चय, अजः - जन्मरहित-
अविनाशी, अप्राणः - प्राकृत प्राण रहित, अमनाः - प्राकृत मन
रहित, शुभ्रः - शुद्ध निर्मल स्वरूप, अक्षरात्परतः परः - क्षर पुरुष
से परे जो अक्षर पुरुष है, उन अक्षर पुरुष से भी परे-अक्षरातीत
परब्रह्म परमात्मा माना जाता है।

भावार्थ:- उक्त श्रुति ने-अक्षर ब्रह्म से भी परे दिव्य पुरुष है, ऐसा कहा है। इस प्रकार उत्तम पुरुष कहकर प्रतिपादन किया है। अतः इस तरह उन्हें ही बाह्य-आभ्यन्तर-इन उभय पक्षों में अज-अखण्ड एवम् प्राकृत प्राण, मन से रहित शुभ्र-शुद्ध साकार स्वरूप कहा गया है।

‘आप्तोपदेशसामर्थ्यात्-शब्दार्थसंप्रत्ययः ।’

- (न्याय दर्शन, २/१/५२) ।

अर्थ: आप्तोपदेश होने से गौतम आदि मुनियों के शब्द प्रमाणरूपेण मान्य करते हैं।

**अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्गवेदो ।
यजुर्वेदः सामवेदोर्थवाङ्गिरस इतिहासः पुराणम् ॥**

- (वृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/१०) ।

उक्त वृहदारण्यकोपनिषद् के मतानुसार सम्पूर्ण शब्द प्रमाण गौरव-लाघवपूर्वक निश्चित तत्त्व विशेष को ग्रहण करने में ही धर्म मानते हैं।

**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।
अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते ॥**

- (अथर्ववेद, शौनकी शाखा, मुण्डकोपनिषद् १/५) ।

अर्थ: विद्या (ज्ञान) दो प्रकार के माने गये हैं। परा और अपरा। चार वेद-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद एवम्

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष विद्या को अपरा विद्या के अन्तर्गत माना गया है। जिस विद्या एवम् ज्ञान द्वारा अक्षर अविनाशी ब्रह्मतत्त्व का बोध होता है, उस विद्या एवम् ज्ञान को ही परा विद्या-ब्रह्म विद्या कहा गया है।

पुनश्च -

**ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहास पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥**

- (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १/४/२०) ।

अर्थ: श्रीमद्भागवत महापुराणान्तर्गत शौनकजी के प्रति सूतजी कहते हैं कि-हे शौनकजी! वेदव्यासजी के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-इन चारों वेदों का उद्धार (पृथक्करण) हुआ। इतिहास और पुराणों को पाँचवाँ वेद कहा गया है।

यसर्थ उक्तं च -

**अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम !
विरोधिषु महीपाल ! निश्चित गुरुलाघवम् ॥**

अर्थ: धर्म का मन्तव्य शास्त्र-वचन के विरुद्ध नहीं होना चाहिये। जहाँ विरोधाभास उपस्थित हो, वहाँ भी गौरव-लाघवपूर्वक तथा 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः' प्रमाणवत् निश्चय करके अबाधित धर्म मार्ग को ही 'शुद्ध वास्तविक धर्म' समझकर ग्रहण करते एवम् अपनाते हैं।

अतः उपरोक्त तीनों शास्त्र प्रमाणानुसार (वृहदारण्यकोपनिषद्,

२/४/१०, मुण्डकोपनिषद्, १/५ और श्रीमद्भागवत महापुराण, १/४/२०) के 'आप्तोपदेशसामर्थ्यात्-शब्दार्थसम्प्रत्ययः'-न्याय दर्शन, २/१/५२ के अनुरूप ब्रह्म, ब्रह्मधाम और ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादित होने के कारण ही श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त मूल वेद से लेकर वि. सं. १६७८ तक के आप्तोपदेशों को गौरव-लाघवपूर्वक अकाट्य रूपेण प्रामाणिक मानता है, मान रहा है और मानते भी जायेगा।

उपरोक्त प्रकार शास्त्र प्रमाणानुकूल हो, तो ही 'वैदिक शुद्ध सनातन हिन्दू धर्म' के सार्वजन्य-सार्वभौमिक सिद्धान्त निश्चित और निम्न प्रकार से वेदवाक्य द्वारा सिद्ध तथा वेदानुकूल धर्म को ही मान्य भी करते हैं। जैसे-

**परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परागतिः ।
सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः ॥**

- (तेजबिंदोपनिषद्, ६/६७) ।

अर्थ: परम दिव्य प्रकाशयुक्त परात्पर धाम में विराजमान उत्तम पुरुष परमात्मा स्वरूप ही सम्पूर्ण वेद-वेदान्त के साररूप एवम् सम्पूर्ण शास्त्र द्वारा अविकल्प रूपेण निश्चित परात्पर ब्रह्म एवम् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं। तदुक्तं-

'ह्यक्षरात् परतः परः' (मुण्डकोपनिषद्, १/२) के अर्थानुसार कूटस्थ अविनाशी अक्षर ब्रह्म से भी 'परतः परः' स्थित अक्षरातीत ब्रह्म अत्यधिक श्रेष्ठातिश्रेष्ठ ब्रह्म हैं। यह अर्थ उपरोक्त तीनों ही मन्त्रानुकूल अविकल्प रूपेण सिद्ध एवम् तथ्य प्रमाणित है। उक्त पद के विपरीत 'अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है'

कहकर अर्थ करना शास्त्र विरुद्ध अनर्थ है क्योंकि 'इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते'-(श्रीमद्भागवत महापुराण, १/४/२०)। अतः 'अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ है'- ऐसा कहना उक्त प्रमाणाधार विभिन्न ऋषि-महर्षियों के एकमत द्वारा निश्चित किए गए अक्षरातीत ब्रह्मतत्त्व विषय के अर्थ पर कुल्हाड़ी मारना एवम् कुठाराघात करना है एवम् अक्षरातीत ब्रह्मतत्त्व के ऊपर ही कुल्हाड़ी मारना तथा जघन्य अपराध करना है।

कारण जिन विभिन्न इतिहास, पुराण और संहितादि को वेदव्यासजी श्रीमद्भागवत महापुराण ग्रन्थ में अविकल्प रूप में स्पष्ट रूपेण 'पञ्चमो वेद उच्यते' कह कर बता रहे हैं तथा अक्षरातीत ब्रह्मतत्त्व वेदान्त दर्शन ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से दिखा रहे हैं, तो उक्त अर्थ करना उन ग्रन्थों के रचनाकर्ता ऋषि-महर्षियों को 'यथा खरश्चन्दन भारवाही' कहना है या आज के वेदज्ञ-मर्मज्ञ लोगों को ? अथवा क्या पूर्व के ऋषि-महर्षि मात्र ग्रन्थकर्ता ही थे ? आज कलिकाल गुण ग्रस्त तत्त्व वेत्ताओं की तरह विशिष्ट विद्वान नहीं थे क्या ?

किन्तु श्रीमन्निजानन्द-श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त की मान्यताओं पर अच्छी तरह नजर डालते हुए आगे बढ़ियेगा। यह सम्प्रदाय सिद्धान्त विक्रम संवत् १६७८ में ही प्रकट हुआ है, यह एक अविकल्प अकाट्य तथ्य है। इस श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय-सिद्धान्त के आद्यगुरु श्रीमन्निजानन्द सद्गुरु श्री देवचन्द्रजी ही हैं। पुनः उनके प्रमुख शिष्य श्री केशव ठाकुर के सुपुत्र श्री मेहराज ठाकुर ने उक्त संप्रदाय अंतर्गत ज्ञान के प्रवर्तन की ओर कदम

उठाया, यह बात भी आप सबको यत्किंचित् मात्रा में ज्ञात कराई जा चुकी है।

इस श्रीमन्निजानन्द-श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त प्रवर्तकों का मुख्यातिमुख्य ध्येय परमतत्त्व रूपी ज्ञान के सैद्धान्तिक मार्ग विषय में निम्नोक्त प्रकार से आह्वान करना है। यथा -

वेदने पुरान सास्त्र सब उपजे,

पीछे भारत परब अठार ।

दाझ न मिटी तिन व्यासकी,

पीछे उदयो भागवत सार ॥

अतः

सास्त्र श्रवण श्री भागवत,

बुद्धि जागृतको ज्ञान ।

कुल मूल हमारो आनन्द है,

फल नित्य विहार प्रमान ॥

- (निजानन्दीय आह्वान) ।

उपरोक्त सिद्धान्त का सार्वभोमजन्य आह्वान दार्शनिक सिद्धान्तानुकूल है या नहीं, इस विषय का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन निजानन्द सिद्धान्त कराता है। उक्त ठोस सिद्धान्त द्वारा सार्वभोमजन्य ज्ञान का प्रचार-प्रसार होते हुये आज तीन सौ साल व्यतीत हो चुके हैं। अतः इसके उपरान्त वैदिक सनातन हिन्दू धर्म

गोष्ठी द्वारा प्रकाशित 'विवरण पत्र' पुस्तिका की "समीक्षा" नामक पुस्तिका के रूप में श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त 'स्वधर्म निधनं श्रेयः' प्रमाणानुकूल स्व-सिद्धान्त अन्तर्गत उपस्थित हुए विषयों का तथा धर्म सिद्धान्त प्रति विभिन्न शंका-उपशंकादि द्वारा कपोल-कल्पित गूथे हुए आक्षेप-आरोपों का तथा शंकाशील व्यक्तियों के मस्तिष्क में भरी-जमी हुई शंकाओं का समाधान करने जा रहा है।

❀ सिद्धान्त दर्शन ❀

(श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्तान्तर्गत आनेवाले वैचारिक (दार्शनिक) और व्यवहारिक-दोनों पक्षों का अवलोकन कराते हैं।)

❀ वैचारिक (दार्शनिक) पक्ष ❀

'प्रणामी धर्म में दूसरा ऐतिहासिक परिवर्तन' नामक शीर्षक में स्वामी १०८ श्री ईश्वरानन्दजी महाराज की दृष्टि में 'स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि' नजर में आने विषय की समीक्षा।

स्वामी १०८ श्री ईश्वरानन्दजी महाराज का निर्णय पक्ष -

“प्रणामी धर्म में 'अक्षर' शब्द द्वारा ब्रह्म की मान्यता हो चुकने के पश्चात् भी पुनः उसके ऊपर अक्षरातीत तत्त्व को सर्गुण साकाररूप में मानना स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि देखने में आती है।”

अतः समाधान पक्ष:-

श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय एवम् श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त के मतानुयायी ब्रह्म को शुद्ध स्वरूपवान्, सच्चिदानन्दमय,

अनन्तधर्मावच्छिन्न-स्वयं सिद्ध दिव्याकार, चिद्घन स्वरूप प्रतिपादन करते और मानते हैं। परमात्मा के स्वरूप में प्राकृतिक पदार्थों का अभाव होने के कारण उनके नित्य-लीला विग्रह कभी भी अकाट्य रूपेण विनाश होते नहीं हैं। वे ब्रह्म विविध शक्तियों से समन्वित अपने अनन्त ब्रह्मधाम में नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वयंसिद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप चेतनमूर्ति प्रकाशपूर्ण सुशोभ्यमान हैं। यसर्थ दिव्यगुणयुक्त सर्वशक्तिमान् होने से उनके यावत् पदार्थ अप्राकृत 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अनुरूप पूर्णात्पूर्ण हैं। इस प्रकार का कथन अनेकानेक श्रुति-स्मृति द्वारा प्रमाणित किया गया है। अतः

**पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥**

- (ईशावास्योपनिषद्) ।

अर्थ: अदः - वह ब्रह्म, पूर्णम्-पूर्ण है, इदम् -यह धाम-ब्रह्मधाम सहित, पूर्णम्-पूर्ण है, पूर्णात्-पूर्ण जो अक्षर ब्रह्म है, उस अक्षर ब्रह्म से भी, पूर्णम्-पूर्णब्रह्म अक्षरातीत परमात्मा, उदच्यते-उत्कृष्टता अतिशयन पूजने योग्य हैं, पूर्णस्य-उन पूर्णब्रह्म परमात्मा की, पूर्णमादाय-पूर्णता प्राप्त कर कूटस्थ अक्षर भगवान सृष्टि रचना करते हैं। परन्तु वे पूर्णब्रह्म परमात्मा- "पूर्णमेवावशिष्यते" पूर्णरूप में ही अवशिष्ट रहते हैं अर्थात् उनकी पूर्णता में किञ्चित् मात्र भी न्यूनता आती ही नहीं है।

भावार्थ: जो सत्य पूर्णब्रह्म हैं, उनका स्वरूप और धाम भी 'बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' रूपेण पूर्ण है। जो पूर्ण अक्षर ब्रह्म है, उन कूटस्थ अक्षर ब्रह्म से भी अक्षरातीत परमात्मा श्री राजजी उत्कृष्टता

अतिशयन अविकल्प रूप से पूजने योग्य हैं। उन सर्वोत्तम पूर्णब्रह्म परमात्मा की पूर्णता प्राप्त करके सृष्टिकर्ता कूटस्थ अक्षर सृष्टि रचना करते हैं, किन्तु उन सर्वोत्तम पूर्णब्रह्म अक्षरातीत परमात्मा की पूर्णता में किञ्चित् मात्र भी न्यूनता आती नहीं है अर्थात् वे सदैव 'पूर्णमेवावशिष्यते' पूर्णरूप में ही अवशिष्ट रहते हैं।

अब उक्त विषय के प्रमाण का और विस्तार न करते हुये मात्र इंगित करके मुख्य विषय की ओर जाते हैं। उक्त विषय के अन्य प्रमाण निम्नोक्त वेदादि ग्रन्थों में देखने का कष्ट करें। यथा ऋग्वेद अ.८/ मं.१०/सू. १२९, यजुर्वेद सं.अ. ३१/मं.११, तेजबिदोपनिषद् अ.४/ मं.५९, ६०, ६१, माण्डूक्योपनिषद् अ.२/११ और त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद् अ. ७।

उक्त प्रमाणादि से भी यदि शंका निवारण नहीं हुई, तो अन्यान्य प्रमाणों को भी प्रणामी सिद्धान्त जरूर रखेगा। सूचित करने की कृपा करें। अतः इसके उपरान्त अक्षरातीत विषय-वस्तु की ओर चलें।

❀ अक्षरातीत तत्त्व विषय ❀

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥

स्वामी १०८ ईश्वरानन्दजी महाराज !

क्या 'अक्षरात्परतः परः' इस वेद मन्त्र का अर्थ 'अविनाशी जीवात्मा से भी अत्यन्त श्रेष्ठ' इस प्रकार करना-मानना ही अनर्थ अर्थ करना और अक्षरातीत तत्त्व के सिर पर कुल्हाड़ी मारना नहीं

है ? ध्यान रखें। देखिये १०८ श्री महाराजजी ! वेद, शास्त्र, पुराणादि के रचनाकर्ता ऋषि-महर्षि लोग जानकार-समझदार थे या उन लोगों से भी विशिष्ट जानकार आप ही हैं ? शास्त्रोक्त चार प्रकार के प्रलयों को विस्मृतकर-भूलकर वेद-शास्त्रादि का अर्थ समझते-समझाते हैं या समझते-समझते भी अनर्थ अर्थ कर रहे हैं ? ऐसे अनेकानेक प्रश्न न करते हुये आपको अन्य शास्त्र-पुराणों के रचनाकर्ता ऋषि-महर्षियों के दो-चार प्रमाण और दिखा देंगे, उन्हीं प्रमाणों के आधार पर आप स्वविद्वत्ता से नाप-तौलकर निश्चित कर लीजियेगा।

अतः 'अक्षरात्परतः परः' का अर्थ सृष्टिकर्ता कूटस्थ अक्षर ब्रह्म से भी परतः परः अक्षरातीत ब्रह्म न करके उपरोक्त 'अविनाशी जीवात्मा से भी अलग अत्यन्त श्रेष्ठ ब्रह्म' कहकर करते हुए निम्न शास्त्र प्रमाण और ऋषि-महर्षियों पर लाठी चार्ज करने दौड़ेंगे कि क्या करेंगे ? आप ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि आकाश पर थूकने से छींटे कहाँ गिरते हैं ? महाराजजी, क्या अपने ही मुख पर नहीं गिरते ? अब निम्नोक्त प्रमाणों पर नजर डालने और विचार-विवेक करने की ओर चलियेजी।

प्रमाण नं. १

नारायणादि जीवान्ता सृष्टिर्मोहावधौ स्थिता ।

तत्परं त्वक्षरं ब्रह्माक्षरातीतं तु तत्परम् ॥

- (पु. सं.)।

अर्थ: नारायण से लेकरके विश्वमें यावत् जीवात्माएँ

मोहात्मक, नश्वर-नाशवंत हैं । केवल नारायण से परे अक्षर और अक्षरातीत परमात्मा ही अविनाशी हैं । इस बात को वृहद्दामन पुराण में श्री कृष्णजी की स्तुति करते हुए श्रुति देवी कहती हैं कि -

नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।

सगुणं ब्रह्म सर्वदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥

- (वृहद्दामन पुराण) ।

अर्थ : नारायण आदि जितने भी देव हैं, उनके स्वरूप को हम जानते हैं । उनके प्रति हमें यथार्थ वस्तु-बुद्धि प्रकट नहीं होती । इस विषय हेतु श्रीमद्भागवत महापुराण के स्कन्ध २/१०/११ में भी देखने का कष्ट करें ।

प्रमाण नं.२

अक्षरातीतमेतद्धि यस्मान्नान्यद्धि वर्तते ।

अलौकिकं परं धाम तस्मादक्षर एव हि ॥

- (ब्रह्म संहिता) ।

अर्थ : जो अक्षरातीत धाम है, वहाँ से कभी भी लौटना नहीं पड़ेगा । कारण वह भूमिका अलौकिक होने से चल-विचल से रहित नेहेचल रूप में अवस्थित है ।

यदुक्तं-

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्द्वाम परमं मम ॥

- (गीता) ।

प्रमाण नं. ३-

क्षराक्षराक्षरातीताः पुरुषाश्शक्तिभिः सह ।
कार्यकारणहेत्वर्थे भवेयुर्व्रजमण्डले ॥

पुनश्च-

क्षराक्षराक्षरातीताः पुरुषाश्चेति विश्रुतः ।
कृष्णलीला विशेषं च कथायाशु विवेकतः ॥

- (वृहदसदाशिव संहिता) ।

अर्थ : क्षर-अक्षर पुरुष से भी परे अक्षरातीत सर्वशक्तिमान्
अद्वैत पुरुष कार्यकारणवश व्रजमण्डल में प्रकट हुये हैं ।

यदर्थ १०८ महाराजजी ! उक्त प्रमाण में इंगित अक्षरातीत
धाम से व्रजमण्डल में आये हुए पुरुष कौन और कहाँ के हैं ? यदि आप
उपरोक्त शास्त्र, पुराणादि के प्रमाणों को मानते हैं, तो श्रद्धा-दृष्टि से
निहारकर देखियेगा और विचार-विवेक भी कीजियेगा । यदि मानते ही
नहीं, तो उक्त स्वरूप के सिर पर कुल्हाड़ी ही मारते रहियेगा । परन्तु
इन शास्त्र-पुराण के रचनाकर्ताओं को ही क्या आप स्वमत सिद्धार्थ
बहिष्कृत करेंगे ?

प्रमाण नं. ४ -

वृन्दावनाश्रया लीला साऽक्षरात्परतः परा ।
गुह्याद्गुह्यतरागम्या नित्याऽक्षरहृदि स्थिता ॥

- (वृहदसदाशिव संहिता) ।

अर्थ : अक्षरात्परतः परः पुरुष द्वारा वृन्दावनाश्रय में की

हुई गुह्याद्गुह्यतर (अतिगोप्यातिगोप्य) अगम्य लीला नित्य अखण्ड रूपेण अक्षर ब्रह्म के हृदय में स्थित है।

महाराज ईश्वरानन्दजी ! अब आप क्या करेंगे ? उक्त “अक्षरहृदि स्थिता” का अर्थ अक्षर शब्द के हृदयस्थ है, ऐसा कहकर करेंगे क्या ? अथवा अविनाशी जीवात्माओं ने स्वतः ही हृदयस्थ किए हुए हैं, ऐसा कहेंगे ? आप अपने दिमाग को थोड़ा कसरत कराते हुए विचार-विवेक कर लीजिये तो। अब तो आप शायद “अक्षरातीत तत्त्व” को मानते हैं न ? या अभी भी “स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि” कहने की हठ ही पकड़कर बैठे हैं ? अतः पुनः पाँचवें प्रमाण पर भी नजर डालकर देख लीजियेजी !

प्रमाण नं. ५

‘एतत्क्षराक्षरातीतमनक्षरमितीर्यते’

- (योगशिखोपनिषद्) ।

अर्थ: उपरोक्त प्रकार क्षर, अक्षर से भी परात्पर अक्षरातीत बताते हुये ‘अक्षरातीत तत्त्व’ प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र, उपनिषदादि के रचनाकर्ता ऋषि-महर्षियों को ही अवैदिक कहने लगेंगे अथवा वे भी प्रणामी पक्षवाले हैं, ऐसा कहते हुए संतोष धारण करके बैठ जायेंगे ? अब आप क्या करेंगे, बोलिये जी !

प्रमाण नं. ६

अक्षरातीतमेतद्धि यस्मान्नान्यं हि वर्तते ।

अलौकिकं परं धाम तस्मादक्षरमुच्यते ॥

- (उक्तंच भविष्योत्तर पुराणे) ।

अर्थ: इन अक्षर से भी परे अक्षरातीत धाम में स्थित 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' गीता प्रमाणवत् 'उत्तम पुरुष परमात्मा' कहे जाते हैं। ये अक्षरातीत तत्त्व से आगे अन्य कोई तत्त्व नहीं है। इस तत्त्व को वेदों में 'सा काष्ठा सा परा गतिः' कहा है। इस अक्षरातीत तत्त्व को ही अलौकिक परमधाम कहा हुआ है। इस धाम से नीचे अक्षर ब्रह्म का धाम है, जिसे 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इस तरह इंगित किया हुआ है कारण-

**अधः प्रोक्तः परश्चैव ह्यक्षरश्च परात्परः ।
तस्माज्जाता महानिद्रा चेच्छाशक्त्या सुमंगला ॥**

अर्थ: परात्पर अक्षरातीत से नीचे कूटस्थ अक्षर धाम में अक्षर ब्रह्म का स्थान है, जो सृष्टि के कारण रूप में रहकर कार्यरूपी सृष्टि का विस्तार करते हैं। इन्हीं अक्षर ब्रह्म द्वारा ही महानिद्रा इच्छाशक्ति, सुमंगला आदि उत्पन्न होते हैं।

प्रमाण नं. ७ -

**अक्षरातीत एषो वै पुरुषो बुद्ध उच्यते ।
तेजोमयश्चादिरूपस्तस्यावतार उच्यते ॥**

- (बुद्धगीता) ।

अर्थ : इन्हीं अक्षरातीत पुरुष को परात्पर महानातिमहान् बुद्धिशाली एवम् महामति कहा जाता है। इन्हीं धामस्थ पुरुष के आदेश से अवतार भी होते हैं। अतः जिनके लिए तेजोमय दिव्य वर्णन तथा 'अप्राणो ह्यमनाः अमूर्तः' (प्राकृतिक मन, प्राण और स्वरूप से रहित) एवम् 'दिव्य किशोरावस्था' कहकर वर्णन किया

गया है, आप कहीं उनमें भी निराकार का झण्डा उठाने की ओर तो नहीं लगेगे न ? हम लोगों का कर्तव्य शुकदेव मुनि और शङ्कराचार्य को सामने रखकर स्वयं वैदिक बनने की ओर चलना है। यसर्थ हम लोग तो अक्षरातीत तत्त्व सम्बन्धी हैं न कि निराकार-साकार सम्बन्धी एतदर्थ (इस अर्थ) महाराज श्री ईश्वरानन्दजी अब हम आठवें प्रमाण की ओर बढ़ें!

प्रमाण नं. ८ -

आत्मत्वेन क्षरादेव तद्विलक्षणमक्षरम् ।

अक्षरात्परमत्वेन भोक्ता दृष्टा विलक्षणः ॥

- (अथर्वशिरोपनिषद्) ।

अर्थ: क्षर से परे अक्षर और अक्षर से भी परे अक्षरातीत ब्रह्म परात्पर हैं। वे दृष्टा और भोक्ता-उभय से अलग विलक्षण स्वरूप 'यथा नाम तथा गुणः' युक्त सर्वगुण सम्पन्न विराजमान हैं।

अब एक बार निवेदन करते हैं कि श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के प्रति आपकी दृष्टि में 'स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि' रूपी जो भूत सवार था, वह नौ दो ग्यारह हो चुका है या अभी भी हठ पकड़कर बैठा ही है ? समझ आने में थोड़ी-सी भी कमी हो, तो आगे बढ़ें।

प्रमाण नं. ९ -

मोहसागरतो भिन्नो यदा जन्तुः स्वयं भवेत् ।

सत्त्वैवाक्षररूपश्च ह्यक्षरातीत एव सः ॥

- (बुद्धगीता) ।

अर्थ: मोहसागर में उत्पन्न जीवेश्वर, यावत् पदार्थ कूटस्थ

अक्षर-अक्षरातीत तत्त्व से भिन्न-अलग हैं। इस मायातीत तत्त्व विशेष को प्राप्त करने के निमित्त ही अन्य विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करना और वैदिक निरूपण निहारकर देखना जरूरी है।

पुनः परम सम्माननीय १०८ महाराज ईश्वरानन्दजी! अब आप क्या विचार कर रहे हैं? उक्त प्रकार अक्षरातीत तत्त्व प्रतिपादन कर इंगित करनेवाले आप्तोपदेशों और पूर्वोक्त तत्त्वज्ञ जनों को विद्वान मानें कि अपने ही हठाग्रह को पकड़कर बैठेंगे! या तो आप्तोपदेशकों को ही प्रणामी पक्षवाले कहकर हाथ मलते हुए न रहियेगा जी! कारण शास्त्रोक्त वचन तो ऐसे हैं कि 'पातः पक्वफलस्यैव मरणं दुर्निवारणम्' पके हुये फल की तरह मरण-मृत्यु अनिवार्य ही जीवन को गिरायेगी! यसर्थ देखियेजी! ज्ञानगीता में भी कितने स्पष्ट रूप से दिखाया हुआ है। यथा -

**नाहं नत्वं जगन्नेति न माया जीव ईश्वरः ।
केवलब्रह्म सततं नेह नानाऽस्ति किञ्चन ॥**

- (ज्ञानगीतायाम्) ।

अर्थः हम-तुम, जगत्-माया, जीव-ईश्वर सब ही चलायमान-प्रलयान्तर्गत काल के अधीन हैं। परन्तु केवल अद्वितीय ब्रह्म मात्र ही नेहेचल सदाकाल अचल प्रलयरहित कार्य-कारण से परे हैं। यसर्थ और भी दृढ़ बनियेजी, सुमधुर आग्रह करता हूँ।

प्रमाण नं. १० -

**पुत्रतत्त्वस्य महात्म्यं वक्तुं नैव हि शक्यते ।
वयं चैवात्र तत्रैव ह्यक्षरातीतसंज्ञितम् ॥**

- (बुद्धगीता) ।

अर्थ: हे पुत्र! अक्षरातीत तत्त्व विषय माहात्म्य तो 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' कहा गया है। उस तत्त्व सम्बन्ध की व्याख्या करने में बिना प्रेम असमर्थ हो जाते हैं। कारण 'स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः' स्वयं अपने-आप को बुद्धिमान् माननेवाले, मात्र स्वयं को विद्वान समझनेवाले तत्त्वज्ञानों को तो बिना प्रेम के मात्र शंका-उपशंका ही हाथ में आयेगी-तत्त्वज्ञान की समझ नहीं। अतः इसी कारण ही वे अक्षरातीत तत्त्व को 'अदार्शनिक' सिद्ध करने की ओर दौड़ते हैं।

प्रमाण नं. ११ -

**विश्वरूपं च चैतन्यमेतन्मायास्वरूपकम् ।
मायापरं भवेत् ब्रह्म तत्परं ब्रह्म केवलम् ॥**

- (वज्रसूचि वेदान्त) ।

अर्थ: विश्व के यावत् चैतन्य मायावी ब्रह्म नारायण के सम्बन्धी हैं। ये माया के अधीश्वर ब्रह्म आदिनारायण से परे अक्षर ब्रह्म हैं और अक्षर से भी परे जो ब्रह्म हैं, वे मात्र केवल एक अद्वैत पूर्णब्रह्म परमात्मा सच्चिदानंद स्वरूप हैं।

अब महाराजजी ! उपरोक्त वज्रसूचि वेदान्त में स्थित शङ्कराचार्यजी के मत को भी आपने देख लिया। अब पुनः एक दूसरे वैदिक वेदान्ति संत का प्रमाण भी आप देखने की कृपा करें कारण उन्होंने भी इसी कलिकाल हेतु तत्त्व अनुसन्धान करके यथा तथ्य निष्पक्ष रूपेण कहा है। वे अवधूत संत भी वैदिक ही थे, न कि अक्षरातीत तत्त्व के हत्यारे थे! और समर्थन पक्ष में ही अटल रूपेण खड़े थे। उन वैदिक वेदान्तीजनों को श्रीमन्निजानन्द तथा

श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्तानुयायियों ने न पढ़ाया था न रिश्वत खिलायी थी! निम्नोक्त संत भी श्रीमन्निजानन्द सिद्धान्त प्रकट होने से कुछ काल पूर्व के ही हैं। उन्होंने भी अपने धर्मग्रन्थ में स्पष्टरूपेण कहा है। अतः-

प्रमाण नं. १२ -

**अक्षर लोक के ऊपर, अक्षरातीत अनूप ।
निरख हंस कौतुहल करे, दरसे युगलस्वरूप ॥
जा घरमें अबला बसे, सोही प्रेमका पूर ।
दास कबीरा यों कहे, सो घर हमसे दूर ॥**

- (कबीर वाणी) ।

अर्थ स्पष्ट ही है ।

अब क्या करने का विचार है ? स्वामी १०८ पद्युक्त महाराज ईश्वरानन्दजी ! उक्त पदों में भी उक्त ऋषि-महर्षि और वेद, शास्त्रादि के ही अर्थ का समर्थन करते हुए स्पष्ट कर दिया है। अब तो आप भी अक्षर लोक से परे अक्षरातीत तत्त्व को मानने लगे कि अभी भी अपने ऊपर सवार “स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि” रूपी भूत को ही विद्वत्ता समझकर वैदिक बने रहेंगे ?

“आप्तोपदेशसामर्थ्यात्”-न्याय दर्शन २/१/५२ के अनुसार मात्र मुख से ही मानेंगे अथवा अनुकरण भी करेंगे ? अब तो आपको स्पष्ट हो ही गया होगा, बताइये न ‘कौन वैदिक और कौन अवैदिक’ ! उक्त प्रकार से ‘सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः’ सम्पूर्ण वेद-वेदान्त के सार तत्त्व सर्व शास्त्रादि द्वारा निश्चित किये हुए

‘अक्षरातीत तत्त्व’ की पुष्टि करनेवाले एक दर्जन प्रमाणों द्वारा सिद्ध होने के पश्चात् भी उस तत्त्व विषय त्रुटि ही देखने में आये, ऐसी दृष्टि को ‘शाबाशी’ देने के सिवाय अन्य क्या कहें? परन्तु श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय सिद्धान्त में न तो धर्म असहिष्णुता है और वह न दिखाता ही है। ऐसे आप जैसे जिज्ञासुजनों को शाबाशी देकर भी एक दर्जन प्रमाणों से न समझें, तो दूसरे दर्जन प्रमाण देकर ‘अक्षरातीत तत्त्व बोध’ कराने में श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त पीछे हटेगा नहीं क्योंकि ब्रह्मतत्त्व विषयक समझ ऐसी ही है। जैसे- उक्तं च -

**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।**

- (कठोपनिषद्, १/२/७) ।

अर्थ : आत्म तत्त्व अधिकांश मनुष्यों को तो मात्र सुनने को भी नहीं मिलता। कदाचित् अहोभाग्यवश सुनने को मिल भी गया, तो समझने में उतना ही गहन-कठिन होने के कारण मुख्यतः उस तत्त्व विषय में “स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि” नजर में आती है। गीताजी में भी कहा गया है कि -

**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चित् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥**

अतः उपरोक्त शास्त्र दर्शन के प्रमाण द्वारा भी दृष्टि न खुले, ‘अक्षरातीत तत्त्व’ समझ में न आये, तो आप श्री निःसंकोच ही सूचित करने में पीछे न हटना ।

अब महाराज श्री १०८ जी !

अक्षरातीत तत्त्व विषय उपरोक्त वेद, शास्त्र, पुराणादि और धर्मवेत्ता तत्त्वज्ञानों की मान्यताओं का दर्शन कराया गया । उपरान्त आप श्री ने उन 'अक्षरातीत तत्त्व' को भी 'सगुण-साकार' कहा है । अतः श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त द्वारा मानते आए ब्रह्म 'सगुण-साकार' नहीं हैं, वे तो 'शुद्ध साकार' हैं । उन्हें 'सगुण साकार' कहना गलत है । अतः

❀ शुद्ध साकार ❀

प्रमाण नं. १

**चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥**

- (अथर्ववेद, कांड १९, सूक्त ६, मंत्र ७) ।

उक्त वेद मंत्र का अर्थ समझाते हुए धर्मतत्त्ववेत्ताओं ने इस प्रकार कहा है ।

भाष्यार्थ : इस प्रकार के (मनसः) मनन सामर्थ्य द्वारा; (चन्द्रमा) चन्द्रलोक; (जातः) उत्पन्न हुआ; (चक्षोः) आँख से; (सूर्यः) सूर्य-मण्डल; (अजायत) उत्पन्न हुआ । (मुखात्) मुख से; (इन्द्रः) बिजली; च (और); (अग्निः) आग; च (और); (प्राणात्) प्राण से; (वायुः) पवन; (अजायत) उत्पन्न हुए ।

इसके उपरान्त अब देखियेजी ! यदि वे पुरुष आकाररहित होते, तो वेद मन्त्र में मन, आँख, मुँह का वर्णन कैसे आता और भाष्यकारों ने भी भाष्य कैसे किया होता ? हरगिज़ नहीं करते,

नहीं ? क्यों अब बोलियेजी !

प्रमाण नं. २ -

‘श्रुतो युवा स इन्द्रः’

- (सामवेद, छन्द आर्चिक) ।

अर्थ: - वे परमात्मा सदा युवा हैं, ऐसा सुनने में आता है ।

प्रमाण नं. ३ -

‘त्वं यविष्ठ ! दाशुषो नृन् पाहि’

- (यजुर्वेद, अ. १३, मं. ५२) ।

अर्थ: हे युवा परमात्मा ! आप हमारी रक्षा कीजिये ।

प्रमाण नं. ४ -

**वृहन्निदिधम एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥**

- (यजुर्वेद, अ. ३३, मं. २४) ।

अर्थ: ‘येषाम्-जिसको; इधम:-तेजस्वी; पृथुः - विस्तारयुक्त; स्वरुः-प्रतापी; युवा-युवक-जवान; वृहत्-महान् । इन्द्र:-उत्तम ऐश्वर्यवाले परमात्मा; सखा-मित्र हैं; एषाम्-उन्हीं; इत-को; भूरि-अधिकाधिक; शस्तम्-स्तुति करना योग्यातियोग्य है ।’ परन्तु ‘तस्य योनिपरिपश्यन्ति धीराः’ (यजुर्वेद, ३१/१९) । उन परमात्मा स्वरूप को तो केवल शुद्ध बुद्धिवाले धीर पुरुष मात्र ही देख सकते हैं, अन्य कोई नहीं देख सकते । इसका कारण यह बताया है कि-

**‘उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्त्व शृण्वन्न
शृणोत्येनाम् ।’**

- (ऋग्वेद, १०/७१/४) ।

अर्थ: जो अविद्वान हैं, वे देखते-देखते भी नहीं देखते हैं। सुनते-सुनते भी नहीं सुनते अर्थात् इस रहस्य को उक्त प्रकार के पुरुष नहीं समझ सकते। परन्तु निष्पक्षी, विवेकशील और धीर पुरुष ही उन्हें जानते, देखते और समझते हैं।

प्रमाण नं. ५ -

‘स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनुव्यचलत् ।’

- (अथर्ववेद, कां. १५, सू. २-१) ।

भाष्यार्थ: सः-वे परमात्मा; उत्तिष्ठत्-प्रातः उठते हैं और; सः-वे; प्राचीम्-सामने अर्थात् पूर्व; दिशम्-दिशा की ओर; विचलत्-चले जाते हैं।

अहो! उक्त वेद मन्त्र और वेद मन्त्र के भाष्यकार को तत्त्वज्ञ कहें या इसके विपरीत अनर्थ बकवादियों को तत्त्वज्ञ कहें? पुनश्च-

प्रमाण नं. ६ -

**अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चिम् ॥**

-(अथर्ववेद, १३/१/३९) ।

भाष्यार्थ: हे परमेश्वर! अमुत्र-वहाँ स्थित धाम में; सन्-बैठकर आप; इह-यहाँ के सम्पूर्ण; वेत्य-जानते हैं; इतः-वहाँ स्वधाम में; सन्-बैठकर भी; तानि-वे यावत् सम्पूर्ण चराचर को भी; पश्यसि-

देखते हैं। इतः-वहाँ ब्रह्मपुर से ही; दिवि-प्रत्येक व्यवहार में; रोचनम्-सञ्चालक परमात्मा को; पश्यन्ति-वेदज्ञ धीर विद्वान जन देखते हैं।

अहो! १०८ महाराजजी !! उक्त वेद मन्त्र के अर्थ के मर्मज्ञ-वेदज्ञ विद्वानों को यदि परमात्मा के प्रति तथा परमतत्त्व के प्रति पूर्ण विश्वास होता, तो क्या वे परमतत्त्व के हत्यारे बनने की ओर जाते ? अफसोस !!

प्रमाण नं. ७ -

**स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं
सत्यसंकल्पमाकाशात्मानम् ।**

(शतपथ, १०/६/३/२) ।

अर्थ: वे मनोमय प्राण शरीरवाले प्रकाशपूर्ण सत्य संकल्प आत्मा स्वरूप ब्रह्म की ही उपासना करें।

अरे महाराजश्री देखिये तो! उपरोक्त शतपथ के आप्तोपदेश शरीरयुक्त ब्रह्म की उपासना करना, ऐसा कहते हुए आह्वान कर रहे हैं। अतः वे ब्रह्म हैं भी शरीरवाले तथा दिव्य किशोर स्वरूपवाले।

अब तो आप शायद स्वरूप तो मानने ही लगे होंगे। परन्तु साकार और निराकार स्वरूप मात्र ही या साकार-निराकार से भी न्यारा अन्य कोई मानते हैं ?

प्रमाण नं. ८ -

**‘यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितःततो
नो धेहि जीवसे ।’**

- (ऋग्वेदमण्डल, १०/१८६/३) ।

अर्थ: हे परमात्मन् ! ते गृहे-आपके ब्रह्मधाम रूपी घर में; यद् अदः यो-यह जो; अमृतस्य-अमृत का समुद्र; हितः-स्थित है; तत्-उसमें से; जीवसे-अखण्ड जीवन प्रदान करने हेतु; नः-हम सबको; धेहि-पोषित कीजिये अर्थात् अमर अविनाशी बनाइये।

अतः पुनश्च -

प्रमाण नं. ९-

**यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनाऽऽवृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणप्रजां ददुः ॥**

- (अथर्ववेद, कां. १०/२/२९) ।

अर्थ: यो-जो पुरुष; वै-निश्चित रूप से; अमृतेनावृताम्-चारों ओर से अमृत से आवृत; ब्रह्मणः-परब्रह्म के; तां पुरम्-उस धाम और पुरीको; वेद-जानते हैं; तस्मै-उसके निमित्त; ब्रह्म-परब्रह्म परमात्मा; च-और; ब्रह्मा-ब्रह्म संबंधी मुक्तात्मा; चक्षुः-दिव्य दृष्टि; प्राणम्-उत्तम जीवन; च-और; प्रजाम्-उत्तम ज्ञान अर्थात् सन्तान; ददुः-देते हैं।

भावार्थ: जो पुरुष उक्त प्रकार सम्पूर्ण शास्त्रादि से निश्चित किए हुए, चारों ओर से अमृत द्वारा आवृत किए हुए ब्रह्म को ब्रह्मधाम सहित जानते हैं, उन ब्रह्म सम्बन्धी मुक्तात्माओं को दिव्य दृष्टि, उत्तम जीवन तथा सन्तान भी वे परमात्मा देते हैं। परन्तु जो उन्हें इसके विपरीत जानते और समझते हैं, उन्हें तो उक्त परमतत्त्व विषय में शंका-उपशंका के सिवाय कुछ भी प्राप्त होना दुर्लभ है।

प्रमाण नं. १०-

अच्छा आप श्री वेदान्त दर्शन का एक सूत्र भी देख लीजिये।

‘विकारावर्ति च तथाहि स्थितिमाह’

- (वेदान्त सू. ४/४/१८) ।

अर्थ: उक्त वेदान्त सूत्र के अर्थ में ब्रह्म के स्वरूप का विकाररहित वर्णन करते हुए आद्य शङ्कराचार्यजी ने भाष्य किया है।
यथा-

**विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं परमेश्वरं रूपं,
न केवलं विकार - मात्रगोचरमिति ।**

- (शंकराचार्य भाष्य, ब्रह्मसूत्र, ४/४/१९) ।

अर्थ: श्रुतियों में केवल विनाश होनेवाले स्वरूपों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया है, परन्तु ब्रह्म परमात्मा के अविकारी नित्य दिव्य स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है।

अच्छा महाराज १०८ ईश्वरानन्दजी! अब वेद-वेदान्तों के ही कितने प्रमाण देखते रहें, जरा पुराणादि भी देखने का कष्ट कीजिये -

प्रमाण नं. ११ -

**चिदादित्यं किशोराङ्गं परे धाम्नि विराजितम् ।
स्वरूपं सच्चिदानन्दं निर्विकारं सनातनम् ॥**

- (ब्रह्म वैवर्त पुराण) ।

अर्थ: दिव्यातिदिव्य चेतन मूर्ति स्वरूप किशोरावस्थायुक्त परात्पर अक्षरातीत धाम में विराजमान पूर्णब्रह्म परमात्मा सनातन निर्विकार सच्चिदानन्द स्वरूपवाले हैं।

प्रमाण नं. १२ -

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

- (मुहावरा है) ।

अर्थ: ब्रह्म और ब्रह्मधाम के यावत् पदार्थ सच्चिदानन्दमय स्वरूप अप्राकृतिक होने के कारण वे कभी किसी काल में चल-विचल नहीं होते अर्थात् उनमें कोई घट-बढ़ नहीं होती, वे अखण्ड एकरस नेहेचल हैं ।

सूचना:-उपरोक्त प्रमाणादि से भी शंका-निवारण होने में जरा-सी भी कसर रहे, तो तदुपरांत दूसरे भी दर्जन प्रमाणों की जरूरत पड़ने पर कृपया निःसंकोच ही जरूर सूचित कीजियेगा । प्रचुर मात्रामें प्रमाण हैं-श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त को न समझनेवालों को समझाने और दिखाने के लिए ! परम सम्माननीय १०८ महाराजजी !

उपरोक्त सच्चिदानन्द किशोरावस्था दिव्य चेतन स्वरूप सनातन निर्विकार स्वरूपवाले को निराकार कहना, तो अनुचित ही होगा । अतः निराकार कहें या साकार ? देख लीजिये महाराजजी ! निराकार-साकार विषय 'आगे कूँआ, पीछे खाई' वाली कहावत सामने प्रत्यक्ष खड़ी हो गयी है । पुनः 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' भी नहीं होता, फिर विरोधाभासरूपी वितण्डावाद की सृजना होगी ।

महाराज श्री १०८ जी ! क्षण भर के लिए हम हठाग्रही ही बनें और निराकार पक्ष की ओर लगेँ, किन्तु निराकार पक्ष की ओर

लगते ही निम्नप्रकार की ऐंठन शुरू होने लगती है। यथा-

कर्तृत्वसिद्धौ परमेश्वरस्य

साकारसिद्धिः स्वत एव जाता ।

घटस्य कर्ता खलु कुम्भकारः

कर्ता शरीरी न च नाशरीरी ।।

१०८ महाराज श्री देख लीजिये!

यह सामने दिखाई देनेवाले विश्व-संसार को निराकार कहते ही राँची के पागलखाने में पहुँचने का डर! साकार कहना ही पड़ेगा। साकार कहना युक्तियुक्त और उचित भी है। अब इतने बड़े साकार विश्वकर्ता ब्रह्म को निराकार कहने पर कुम्भकर्ता (कुम्हार) के बिना कुम्भ (घड़े) की रचना होना सिद्ध नहीं होता, अतः नहीं बनेगा। यहाँ जिस तरह कुम्भकर्ता-कुम्हार प्रत्यक्षरूपेण घड़ा सिद्ध कर रहा है, उसी प्रकार सृष्टिकर्ता के आकार बोधार्थ के लिए प्रत्यक्ष रूप में इतना बड़ा विश्व वैराट प्रमाणित है, जिस विश्व में हम लोग स्वयं को भी साकार स्वरूप कहते-मानते हुए चलायमान हैं। यसर्थ साकार-निराकार विषय उपरोक्त प्रकार निराकार से हटकर साकार कुंभ (घड़ा) और यह विश्व-विराट उन सृष्टिकर्ता को किसी जन्म या काल में भी निराकार सोचने या कहने नहीं देता है, है न? साकार ही सिद्ध कर दिया, नहीं?

परन्तु यहाँ इतने में ही छोड़ दूँ? निश्चिन्त हो जाऊँ? नहीं, इतने में ही रह जायेंगे, तो १०८ महाराजजी! अन्य दूसरी ही उग्र आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। वे यह हैं कि 'सर्ववेदान्तसारोऽहं

सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' तो हुआ ही नहीं। मुख्यतः सर्वदेशी सर्व मान्य वेदान्त शास्त्र ही मानता नहीं है, विरोध करता है। अब क्या करें ? अतः सर्वमान्य वेदान्त शास्त्र के न मानने का कारण देख लीजियेजी ! वेदान्त ग्रन्थ श्रीमद्भागवत महापुराण में अवधूत श्री शुकदेव मुनि के वचन और आद्य शंकराचार्यजी के वज्रसूचि वेदान्त के वचन इन्द्र के वज्रवत् सिर पर पड़ेंगे। उन सच्चिदानन्द परमात्मा को साकार कहने मात्र पर सिर ही नष्ट होने का डर है। देखियेजी ! गौर से देख लीजिये। श्रीमद्भागवत स्कन्ध, २/१०/११ से पढ़ते चलिये, वहाँ अवधूत श्री शुक मुनिजी ने राजा परीक्षित को समझाते हुए कहा है कि-

**तास्ववात्सीत् स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान् ।
तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥**

अर्थ: श्री शुकदेव मुनिजी कहते हैं - हे राजा परीक्षित ! विराट पुरुषरूपी नर से उत्पन्न होने के कारण ही जल का नाम 'नार' हुआ। पुनः अपने से ही उत्पन्न किया हुआ होने के कारण 'नार' अर्थात् जल में वे 'नर' पुरुष एक हजार वर्ष तक रहे तथा इसी कारण से उन पुरुष का नाम 'नारायण' हुआ।

अतः यहाँ प्रश्न खड़ा होता है कि नारायण नामकरण के पूर्व उस नररूपी चेतन का नाम क्या था ? कहाँ था वह चेतन और कहाँ से आकर, कहाँ उत्पन्न हुआ ? अच्छाजी ! अभी इन प्रश्नों की ओर न जाकर हम विषय-वस्तु की ओर चलें।

तदुक्तं देखियेजी !

**एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया ।
मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बाहिरावृतम् ॥**

- (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध २/१०/११) ।

अर्थ: हे राजा परीक्षित! मैंने भगवान के इस स्थूल रूप का वर्णन आपको सुनाया। यह बाहर से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, मोहतत्त्व और प्रकृति-इन आठ आवरणों से आवृत किया हुआ है। इसी को स्थूल शरीर कहते हैं।

**अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् ।
अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥ ३४ ॥**

अर्थ: उपरोक्त स्थूल शरीर से परे भगवान का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है, जो अव्यक्त, निर्विशेष, आदि, मध्य और अन्त से रहित एवं नित्य है। अतः वाणी और मन का गम वहाँ तक नहीं पहुँच सकता है। इस कारण उसे अगम्य कहा गया है। परन्तु -

**अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते ।
उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥ ३५ ॥**

अर्थ: हे परीक्षित! मैंने आपको भगवान के स्थूल और सूक्ष्म, व्यक्त और अव्यक्त तथा साकार और निराकार-दोनों स्वरूपों का वर्णन सुनाया। ये दोनों स्थूल-सूक्ष्म भगवान की माया द्वारा रचे गये हैं। इसी कारण समझदार विद्वान तत्त्वज्ञ पुरुष इन दोनों ही स्वरूपों को स्वीकार नहीं करते हैं। इस विषय में विद्वान तत्त्वज्ञ होने के कारण ही आद्य शंकराचार्यजी वज्रसूचि वेदांत में स्पष्ट

कहते हैं -

**साकारऽस्य विनाशोऽस्ति निराकारस्य
शून्यत्वात् । शून्यस्य चावस्तुत्वादुभय पक्ष
विभिन्नं वस्तु ज्ञानं मोक्षः ।।**

अर्थ: जितने भी साकार पदार्थ हैं, वे सम्पूर्ण सायावत् होने के कारण नश्वर, नाशवान् हैं और निराकार शून्य होने के कारण ही सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं हो सकता है। यसर्थ ब्रह्म साकार-निराकार, इन उभय स्वरूपों से भिन्न-अलग ही वस्तु है।

उपरोक्त विषय का समर्थन करते हुए ब्रह्मसूत्र में वेदव्यासजीने भी ब्रह्म के स्वरूप को उक्त स्वरूप से अलग विलक्षण ही दर्शाया है। यथा -

‘न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।’

- (ब्रह्मसूत्र, ३/२/११)।

ब्रह्म स्वरूप विषय साकार-सावयव और निराकार-उभय प्रकार के स्वरूप निषेध हैं। अतः साकार की तरह निराकार भी ग्रहण-उपासना करने योग्य नहीं है।

अब देखियेजी !

उक्त प्रकार से साकार-निराकार से अलग तथा विलक्षण परात्पर अक्षरातीत ब्रह्म का ‘शुद्ध साकार’ स्वरूप ही मानने योग्य तथा वेद-शास्त्रादि से युक्तियुक्त सिद्ध होता है । यथा -

एवं विदित्वा परमात्मरूपं

गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।

समस्त साक्षिं सदसद्विहीनं

प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥

-(कैवल्योपनिषद्) ।

अतः उपरोक्त श्रुति प्रमाणानुसार परात्पर अक्षरातीत तत्त्व विषय यदि आप 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' प्रमाणवत् वैदिक हैं, तो 'शुद्ध साकार' स्वरूप को ग्रहण कर लीजिये। इस मान्यता से किसी प्रकार की उपाधि नहीं आएगी। पुनः सम्पूर्ण आप्तोपदेश, वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराणादि के अर्थ भी इसमें अच्छी तरह से लगेगे। तोड़-मरोड़कर अनर्थ का अर्थ करने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। पुनः आप श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १५-१६, १७, १८ वें श्लोकों के अर्थ भी सही रूपेण करने लगेगे। यथा-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

गीता के उपरोक्त श्लोक का अर्थ अब कर लीजिये तो !

किन्तु सामने योगवाशिष्ठ के ६/२-१०२/५९ के श्लोक को समझते और याद करते हुये अर्थ कीजिये। अतः 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' मात्र तभी आप यथा तथ्य वैदिक बन सकेंगे।

महाराज श्री १०८ ईश्वरानन्दजी ! क्या अब भी आप परात्पर 'अक्षरातीत तत्त्व और शुद्ध साकार' विषय में कुछ कमी या 'स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि' देख रहे हैं? हैं। यदि उक्त विषय में अभी भी कुछ कमी देखने में आये, तो तुरन्त सूचित करने की कृपा जरूर कीजियेगा - अनुरोध करता हूँ।

- सुज्ञेषु किं बहुना-



❀ ॐ की मान्यता ❀

विवेकशील सज्जनवृन्द !

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त के प्रति विभिन्न प्रकार की शंका-उपशंका उपस्थित करने के कारण जिज्ञासु-पिपासु तत्त्व चिन्तकजनों के लिए 'ॐ को नहीं मानते' ऐसा कहते हुए बिना जाने-समझे धर्म सिद्धान्त के प्रति आक्षेप-आरोप लगाए हुए विषयों को लेकर यथा तथ्य मान्यता के प्रकार का दिग्दर्शन कराते हैं क्योंकि आत्मा-परमात्मा तत्त्वानुसन्धान विषय ही गहनशील है। अतः विचार-विवेकवत् सावधानी के आधार पर ही 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः' रूप सार तत्त्व भी प्राप्त होगा और साथ ही साथ शंका-उपशंकाएँ भी निर्मूल हो सकती हैं। इसीलिए देखिये और इस विषय में गौरव-लाघवपूर्वक विचार-विवेक भी जरूर कीजियेगा।

ॐ की उत्पत्ति -

प्रमाण नं. १-

**समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेश्ठिनः ।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ॥
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोकारो योऽव्यक्त प्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥**

- (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२-६-३७/३८/३९) ।

अर्थ: सूतजी कहते हैं-हे शौनकजी! सृष्टि के पूर्व जिस समय परमेष्ठी ब्रह्माजी ज्ञान सम्पादन करने हेतु एकाग्रचित्त हुए, उस समय उनके हृदयाकाश से कण्ठ, तालु आदि स्थान के संघर्ष से रहित एक अत्यन्त विलक्षण अनाहत नाद प्रकट हुआ। जब जीव अपनी मनोवृत्ति को रोकता है, तब उसे इस अनाहत नाद का अनुभव होता है ॥३७॥

शौनकजी! बड़े-बड़े योगी पुरुष इसी अनाहत नाद की उपासना करते हैं और उसी के प्रभाव से वे अन्तःकरण के द्रव्य (अधिभूत), क्रिया (अध्यात्म) और कारक (अधिदैव) रूपी विकारों का नाश करके परमगति रूपी मोक्ष को प्राप्त करते हैं और मात्र संसार के जन्म-मरणरूपी चक्कर से निवृत्त होते हैं ॥३८॥

इसी अनाहत नाद से 'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार-तीन मात्रायुक्त 'ॐ' कार प्रकट हुआ। इस ॐ कार की शक्ति द्वारा ही प्रकृति अव्यक्त से व्यक्त रूप में परिणत होती है। ॐ कार स्वयं ही अव्यक्त एवं अनादि परमात्मा बोधक स्वयं प्रकाशमान है। जो परमतत्त्व 'ब्रह्म परमात्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन परमात्मा के स्वरूप का बोध भी ॐकार द्वारा ही होता है ॥३९॥

अब देख लीजियेजी। उक्त प्रमाण से अनाहत नाद तथा ॐ कार कैसे प्रकट हुए हैं, यह विषय आपको स्पष्ट ही समझ में आ गया होगा, नहीं? अब अन्य मत भी निहारकर देख लें, हैं! 'ब्रह्मविद्योपनिषद्' में निम्न प्रकार कहा हुआ है कि -

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।
 अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥
 यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
 विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः ॥
 सामवेदस्तथाद्यौश्चाऽऽहवनीयस्तथैव च ।
 ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥
 'अर्धमात्रा पराज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम्' ।

- (ब्रह्मविद्योपनिषद्) ।

अर्थ: ऋग्वेद, गार्हपत्याग्नि, पृथ्वी तत्त्व तथा ब्रह्मा देवता-ये सभी 'अ' कार मात्रा द्वारा मान्य हैं। यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, दक्षिणाग्नि, विष्णु भगवान-ये 'उ' कार मात्रा द्वारा माने जाते हैं। सामवेद, द्यौ-आकाशस्य प्युलोक, आह्वनीय अग्नि, ईश्वर (शिव) देवता-ये 'म' कार मात्रा द्वारा मान्य हैं। अर्धमात्रा 'परा' वाणीरूप है। इससे भी परात्पर पाँचों मात्रा ब्रह्मविद्यारूपी ब्रह्मबोधक ज्ञान स्वरूप प्रणव हैं।

अच्छा वेदज्ञजी! उपरोक्त प्रमाणों से तो यह अवगत हो ही गया होगा कि तीनों ही वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) तथा तीनों ही देव (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) उक्त प्रकार से मान्य हैं, ऐसा यथा तथ्य ज्ञात होता है। पुनः अब क्रमानुसार तीसरा मत भी देख लें!

एतद्ध्रयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्रयेवाक्षरं परम् ।
 एतद्ध्रयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

- (कठोपनिषद्, व. २/१६) ।

अर्थ: एतत्-ये; अक्षरम् एव हि-अक्षर ही निश्चय; ब्रह्म-ब्रह्म है; एतत्-ये; अक्षरम्-अक्षर ब्रह्म से परे; एव-ही जो; परम्-परब्रह्म; हि-निश्चय ही हैं, इसलिये; एतत्-इन उभय ब्रह्म को; हि- निश्चय रूप से; अक्षरम्-अविनाशी; ज्ञात्वा-जानकर; य:-जो; यत्-जो-जिसको; इच्छति-चाहते है; तस्य-उसको; तत्-वही ब्रह्म-तत्त्व प्राप्त होता है।

भावार्थ: प्रणव-ॐकार ही इन उभय अविनाशी ब्रह्म तथा परब्रह्म के बोधक हैं। अतः इस तत्त्व को यथार्थवत् अविकल्प रूप से समझकर साधक इसी के माध्यम से अभीष्ट स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

अर्थ: एतत्-ये; श्रेष्ठम्-अत्युत्तम; आलम्बनम्-आलम्बन है; एतत्-ये ही; परम आलम्बन-अन्तिम आश्रय है; एतत्-इस; आलम्बनम्-आलम्बन को; ज्ञात्वा-जानकर-समझकर साधक पुरुष; ब्रह्मलोके-ब्रह्मलोक में; महीयते-महिमान्वित होते हैं।

भावार्थ: यह प्रणव-ॐकार ही परब्रह्म परमात्मा प्राप्त कराने में सब प्रकार के आलम्बनों में से सबसे श्रेष्ठ आलम्बन और परम आलम्बन बोधक है। इसके माध्यम से ही परात्पर पराकाष्ठा तत्त्व के गुह्य रहस्य को समझकर साधक पुरुष श्रद्धा और प्रेम-भक्तिपूर्वक अचल रूपसे निर्भर रहते हैं, तब निःसन्देह ही वे परब्रह्म परमात्मा प्राप्त करने के गौरवाधिकारी हो सकते हैं।

उक्त वेदानुकूल कठोपनिषद् में बताए हुए विषय को दिखाया

गया है। अब पुनः 'परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्' में भी देखें जी! स्वयं श्री नारायणजी ने कहा है। यथा -

**स होवाच नारायणः । ब्रह्म प्रणवः
षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्था चतुष्टयचतुष्टय-
गोचरः । जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रो-
ऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादि चतस्रोऽवस्थाः
सुषुप्तौ सुषुप्त्यादि चतस्रोऽवस्थास्तुरीये
तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति ।**

- (परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्) ।

अर्थः श्री नारायणजी कहते हैं-हे ब्रह्माजी! प्रणव ब्रह्म षोडश मात्रापूर्ण तथा चार पादयुक्त यथाक्रम उदयमान हैं। उनके जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया-इस प्रकार चार-चार भाव हैं। प्रणव के तीन पाद में 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार-ये तीन मात्राएँ अपने-अपने अभिमानी देव तथा वेद सहित ब्रह्मबोधक रूप में वर्तमान उपस्थित हैं।

अब इसी विषय को अविकल्प रूप से स्पष्ट करते हुए तथा समझाते हुये निम्न 'योगचूड़ामण्डपनिषद्' में अंकित प्रमाण, जो कि वेदानुकूल ही है, को क्यों छोड़ें? देख लीजिये! अतः

**प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो मतः ॥**

- (योगचूड़ामण्डपनिषद्) ।

अर्थ: ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि सम्पूर्ण विश्व प्रणव से ही उत्पन्न होते हैं और इन सभी से परे प्रणव-परब्रह्म बोधक रूप है।

पुनः वेदज्ञ महाशयजी! यह सिद्धान्त 'श्रीमद्भगवद्गीता नहीं मानते' कहते हुए शंका करनेवाले जिज्ञासु लोगों हेतु गीता का मत भी प्रस्तुत करता है। कारण श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त वेद-शास्त्रादि को भी 'यथा खरश्चन्दन भारवाही' रूप से नहीं मानता है बल्कि वेद-शास्त्रादि के अन्दर के तत्त्व ज्ञान को लेकर चलता है। अनूठी बात है कि इसी कारण से आपके और हमारे सिद्धान्त की मान्यता में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह भी मात्र वेदज्ञ महाशयजी की दृष्टि में ही आता है, अन्य की दृष्टि में नहीं! यसर्थ आपश्री के निमित्त अब गीता के अध्याय १७/२३-२४ की ओर चलियेजी! यथा -
उक्तं च -

**ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥**

अर्थ: ॐ तत् सत्-इन तीन पदों द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म सत् हैं अर्थात् सत् मानने योग्य हैं। उनके द्वारा ही सृष्टि के आद्यकाल में ब्राह्मण, वेद एवम् यज्ञादिक कर्मों की रचना हुई है।

**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ॥
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥**

यसर्थ वेदवेत्ता तथा रहस्य समझनेवाले श्रेष्ठ पुरुष द्वारा

निश्चित किये हुए यज्ञ, दान और तपरूपी कर्म करते समय ॐकार निश्चित लक्ष्य रूपी परात्पर सच्चिदानन्द ब्रह्म का उच्चारण-यादस्य करके ही आरम्भ करते हैं।

यदुपरान्त वेदज्ञजी ! यह विचार-विवेक करें कि ! जो परात्पर ब्रह्मतत्त्व के दुश्मन हैं और वेद-शास्त्रादि को भी व्यापार का साधन मात्र बनाए हुए हैं, ऐसे जनों द्वारा किये-कराए हुए यज्ञ, दान, तप रूपी कर्मादि का फल-पुण्य कैसा और कितना होता है ?

अच्छाजी ! हम लोग तो 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' यावत् आप्तोपदेशानुकूल वैदिक नहीं हैं, यसर्थ अब हम लोग गीताजी के मन्तव्य के पश्चात् 'पञ्चब्रह्मोपनिषद्' में चलें। यदुक्तं -

‘पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम् ।’
पञ्चब्रह्मात्मिकां विद्यां योऽधिते भक्तिभावितः ।
स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम् ॥

- (पञ्चब्रह्मोपनिषद्) ।

उक्त पाँचों मात्रायुक्त प्रणव ब्रह्म अव्याकृत ब्रह्म के कार्य रूप हैं। जो पुरुष इस प्रणवात्मक ब्रह्म के पाँचों मात्रायुक्त गुह्य रहस्य को भक्तिभावपूर्वक जानते-समझते हैं, वे रहस्यज्ञ पुरुष ही उस तत्त्ववत् परात्पर ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। उपरोक्त पाँचों मात्राओं का अलग-अलग विस्तार निम्न प्रकार से जानने-समझने योग्य है।

‘अमात्राश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः

शिवोऽद्वैत एवमोंकारः।’

अमात्राऽनन्तमात्राश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।

ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥

- (माण्डूक्योपनिषद्, प्र. १/२९) ।

अर्थः स्थूल, सूक्ष्म और कारण से भी परे जो महाकारण स्वरूप ॐकार है, वह अद्वैत रूप है। इस विश्व के संपूर्ण प्रपञ्च इसी में लय होते हैं तथा मात्राओं के व्यवहार से भी परे शिवरूप है। इस प्रकार अमात्रिक और अनन्त मात्रायुक्त ‘ॐकार एवेदं सर्व’ विश्वरूप सम्पूर्ण में ॐकार के ही विस्तार हो रहा है। इस प्रकार जो ॐ कार के उभय-मात्रिक और अमात्रिक स्वरूप को यथा तथ्य जानते-समझते हैं, उसी को तत्त्वज्ञ ज्ञानी कहा जाता है।

अच्छाजी! अब सार-असार निर्णयात्मक विषय के अन्य मत भी देख लीजिये। शास्त्रोक्त प्रमाण कैसा है ?

‘एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः’ ।

अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम् ।

पञ्चधा पञ्चदैवत्वं सकलं परिपठ्यते ॥

- (ब्रह्मविद्योपनिषद्) ।

अर्थः प्रणव-ॐकार एक मात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा युक्त है। इसके अर्धमात्रा को तीनों ही मात्राओं (‘अ’कार, ‘उ’ कार और ‘म’ कार एवं ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद

और सामवेद) से परे माना जाता है । इस अर्धमात्रा से भी परे बिन्दु स्वरूप है। अन्यथा ‘अ’ कार, ‘उ’ कार, ‘म’ कार, अर्धमात्रा और बिन्दु मात्रा-इन पाँचों मात्राओंयुक्त प्रणव-ॐकार को कलापूर्ण माना गया है।

पुनः वेदज्ञ महाशयजी ! अब अन्य उपनिषदादि पर भी दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ें, तो उक्त विषय और भी स्पष्ट हो जाएगा। अतः क्यों न देखें, है न ?

यथा :-

**ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिव ।
पञ्चधा पञ्चदैवत्वं प्रणवः परिपठ्यते ॥**

अर्थ: ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव-ये पाँचों वेद और पाँचों तत्त्वों के अधिष्ठाता देवयुक्त प्रणव को पूर्णकलायुक्त माना गया है।

इसी कारण तो हे वेदज्ञ महाशयजी ! पाताञ्जल योगसूत्र में कहा गया है कि ‘तस्य वाचकः प्रणवः’। उन परात्पर पराकाष्ठास्वरूप परब्रह्म परमात्मा के बोधक पूर्णकलायुक्त प्रणव ॐकार हैं। अतः अब वेदज्ञजी सहित अन्यान्य जिज्ञासु महानुभावों से विनयपूर्वक निवेदन करते हैं कि ‘अ’ कार, ‘उ’ कार, और ‘म’ कार से परे अर्धमात्रा और बिन्दु मात्रा सम्बन्धी अथर्ववेद और स्वसंवेदों की मान्यता पेश करते हैं। सावधान रहें, क्योंकि -

❀ सावधान में शंका निवारण ❀

तदुपरान्त श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त में ॐ की मान्यता है या नहीं ? इस प्रकार की शंका-उपशंका उपस्थित करने, करानेवाले महानुभावों को निःशंक विचार-विवेकवत् निष्कर्ष निकालने हेतु प्रेमपूर्वक निवेदन करते हैं क्योंकि यह श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त 'यथा खरश्चन्दन भारवाही' की तरह नारा लगाते हुए अज्ञात विषय के प्रति शिशुपालवत् बकवास करते हुए न तो जबान चलाता है और न कलम ही उठाता है। हँ! प्रयोजनानुसार यथा तथ्य सैद्धान्तिक मान्यता का दिग्दर्शन कराने में कभी पीछे भी हटता नहीं है और अपने धर्म की मान्यता जरूर स्पष्ट करके दर्शाता है। 'स्वकान निश्चित किये बिना कौवे के पीछे-पीछे दम तोड़कर भागता नहीं है।'

अतः

‘त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।’

- (श्रीमद्भगवद्गीता, २/४५) ।

अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम् ।

पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सकलं परिपठ्यते ॥

- (ब्रह्मविद्योपनिषद्) ।

‘परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।’

- (श्रीमद्भागवत, ११-३/४४) ।

‘तीनों वेदों ने यों कहा,

वेद अथर्वन सबको सार ।’

- (श्री निजानन्द सिद्धान्त आह्वान) ।

अर्थ:

- १) हे अर्जुन! तीनों वेद त्रिगुणात्मक विषयों का प्रतिपादन करते हैं। यसर्थ गुणातीत आत्मा-परमात्मा को सन्निकट करानेवाली ब्रह्म विद्या-आत्मज्ञान द्वारा अन्तर्मुखी हो जा।
- २) ‘अर्धमात्रा पराज्ञेया’ अर्थात् अर्धमात्रा ‘परा’ वाणीरूप होने के कारण अर्धमात्रा त्रिमात्रा से परे है और अर्धमात्रा से भी परे बिन्दुमात्रा है। उक्त पाँचों मात्रायुक्त प्रणव को पूर्णकला माना गया है।
- ३) वेद परोक्षवादात्मक है। इस (वेद) में कर्म निवृत्ति हेतु कर्म में उसी तरह ही प्रवृत्त कराया गया है, जिस तरह बालक को मिठाई का प्रलोभन दिखाकर दवाई खिलाई जाती है।
- ४) तीनों ही वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) ने उत्तरोत्तर महत्त्व देते हुये चौथे अथर्ववेद को ही साररूप तत्त्ववत् पुकारा है। अतः अथर्ववेद अन्य तीनों वेदों से मुख्य है।

- (निजानन्दीय मान्यता) ।

अहो महाशय वेदज्ञजी !

सर्वप्रथम अथर्ववेद का परिचय कराना जरूरी है। कारण हठाश्रयी लोगों ने कलम चलाते हुए अथर्ववेद के प्रमाण के विषय में ‘अकबर बादशाह’ को अथर्ववेद का रचयिता बनाने के धर्म का पालन करते हुए ‘विवरण पत्र’ पुस्तिका में उल्लेख किया है। यसर्थ

सदसत् विवेकशील जिज्ञासुजनों हेतु यहाँ अथर्ववेद का परिचय स्पष्ट कर समझाना अनुचित नहीं होगा। यथा-

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा -

थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।

स भारद्वाजाय सत्यवहाय

प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावरम् ॥

- (मुण्डकोपनिषद्, खं. १-२) ।

अर्थ: अथर्ववेदान्तर्गत स्थित ब्रह्मविद्या सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने अथर्वा ऋषि को दी थी। तत्पश्चात् अथर्वा ने अङ्गी ऋषि को और अङ्गी ऋषि ने भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न सत्यवह नाम के ऋषि को दी। उसके पश्चात् सत्यवह ने भारद्वाज को दिया और इसी ज्ञान को भारद्वाज से अङ्गिरा नामक ऋषि ने प्राप्त किया। पुनः अङ्गिरा ऋषि ने वह ज्ञान सूतजी को दिया, जो ऋषिकुल के अट्ठासी हजार ऋषियों के मध्य ब्रह्मविद्या के जिज्ञासुओं में से अग्रगण्य और विवेकशील थे। उनमें ब्रह्मतत्त्व विषय का श्रद्धा-भक्तियुक्त आग्रह देखकर ऋषि अङ्गिरा द्वारा दिये हुए अथर्ववेद अन्तर्गत के मर्मज्ञ तत्त्वों को सूतजी ने पुनः शौनकजी को दिया। वही ज्ञान यहाँ श्रीमद्भागवत महापुराण के अन्तर्गत है। अब इसके उपरान्त विवेकशील महानुभावों ने 'अकबर बादशाह' के चले-चपेटे विद्वानों के निष्कर्ष निर्णयवत् ज्ञान को देख लीजिये। अतः उक्त प्रकार की विद्वत्ता को क्या कहें? 'कहें तो माँ मर जाय, न कहें तो बाप कुत्ता खाय' नामक कहावत समझकर अपनी ही नाक बचानी पड़ती है। अतः देख लीजिये वेदज्ञजी!

‘अर्धमात्रा परा ज्ञेया’ अथर्ववेद अन्तर्गत स्थित ज्ञान से हाथ धोनेवाले वेदवक्ता-वेदज्ञजन, क्यों इस बात को जानते-समझते नहीं हैं कि ‘अर्धमात्रा’ परा वाणी रूप है। इस अर्धमात्रा से भी परे बिन्दुरूप होने के कारण ब्रह्म साक्षात्कार करानेवाले को ज्ञान और ज्ञानवान् स्वरूप को परात्पर मान लिया गया है। उक्त पाँचों मात्रायुक्त प्रणव-ॐकार को पूर्णकला कहा गया है। यसर्थ “सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः” प्रमाणानुसार ‘तस्य वाचकः प्रणवः’-पातञ्जल योग सूत्राधार में प्रत्यक्ष कराया गया तत्त्व ही परात्पर यथायोग्य युक्तियुक्त होने में कोई विकल्प नहीं है।

अहो वेदज्ञ मर्मज्ञजी! देख लीजिये तो, अथर्ववेद की शौनकी शाखा से उद्धृत मुण्डकोपनिषद् के मु. २/खं. २ के चौथे श्लोक में दृष्टि पहुँचाये बिना ही आप वृद्धावस्था में पहुँच गये? या तो हठग्राही बनकर बकवास करते हुए आपने कलम चलायी है? हैं! ‘ब्रह्म तत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा’ की तरह हो गये हैं, तो श्री कृष्ण परमात्मा की प्रार्थना करके शक्ति याचना कर लीजिये। अरे जी, देख लीजिए! श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों में यदि श्रद्धा-विश्वास है, तो प्रभु ने कहा ही है-‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः’ उपरोक्त वचनानुसार दिव्य दृष्टि माँगकर उक्त प्रमाण ही देख लीजियेगा। आपका जीवन ही सार्थक बन जायेगा। वहाँ इस प्रकार स्पष्ट कर समझाया गया है। यथा -

**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्षमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्भ्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥**

- (मुण्डकोपनिषद्, मु. २, खं. २/४) ।

अर्थः प्रणवः (यहाँ)-ओंकार ही; धनुः-धनुष है; आत्मा-

आत्मा; हि-ही; शरः-बाण है (और); ब्रह्म-परब्रह्म परमेश्वर ही; तल्लक्ष्यम्-उसका लक्ष्य; उच्यते-कहा जाता है; अप्रमत्तेन-(वह) प्रमादरहित मनुष्य द्वारा ही; वेद्भव्यम्-बींथा जाने योग्य है (अतः); शरवत्-(उसे बेधकर) बाण की तरह; तन्मय-(उस लक्ष्य में) तन्मय; भवेत्-हो जाना चाहिये।

भावार्थ- प्रणव 'तस्य वाचकः प्रणवः' पूर्णकलायुक्त ॐकार 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' साररूप ज्ञान ही धनुष है। तत् ज्ञान द्वारा 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' की अधिकारी आत्मा ही बाण है और वेद-वेदान्त के साररूप सम्पूर्ण शास्त्र-पुराणादि द्वारा निश्चित किये हुए परात्पर अक्षरातीत परब्रह्म परमात्मा ही लक्ष्य हैं। अतः यह लक्ष्य प्रमादरहित एवं विकल्प ज्ञानरहित विशुद्ध ज्ञान से दृढ़ विश्वास और अनन्यता पूर्वक तन्मय एकाग्रतापूर्ण योगारूढ़ भक्त-साधक द्वारा मात्र प्राप्त होता है। इसलिए अनन्यतापूर्ण प्रमादरहित एकनिष्ठ योगारूढ़ हो जाइये।

वेदज्ञजी! उपरोक्त अथर्ववेद के साररूप गुह्यात्गुह्य पराकाष्ठा-तत्त्व को स्पष्ट करते हुये महापुराण श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ७ के १५ वें अध्याय में कहे गए ४१ और ४२ वें श्लोकों को 'तोते के राम-राम पना' से ऊपर उठकर दिव्य दृष्टि से निहारिये और उस पर विचार-विवेक भी कर लीजिये तो! वेदज्ञजी! तबतो आपकी भी 'तस्मिन्दृष्टे परावरे' होने में शंका की गुञ्जाइश ही नहीं है! यथा-

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि

ह्यानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।

वर्तमानि मात्रा धिषणां च सूतं

सत्त्वं बृहद्वन्धुरमीशसृष्टम् ॥४१॥

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ

चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति

शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥४२॥

अर्थ: यह पञ्चभौतिक शरीर रथ है। दस इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम है और शब्दादि विषय ही रास्ता-सड़क है। बुद्धि ही सारथी है और चित्तवृत्ति बाँधने की डोरी है। दस प्राण धुरी, धर्म और अधर्म ही रथ के चक्के हैं। इसमें विराजमान अभिमानी हठी जीवात्मा को ही रथी कहा गया है। अतः अँकार प्रणव ही धनुष है। ब्रह्म ज्ञानाधिकारी आत्मा ही बाण है और परब्रह्म परमात्मा ही लक्ष्य हैं। इस अँकार प्रणव के माध्यम से बाणरूप आत्मा को परब्रह्म परमात्मारूपी लक्ष्य में पहुँचाना ही इस दुस्तर संसार-चक्र से अपनी आत्मा को पार लगाना तथा स्व-आत्मोद्धार करना है।

यदुपरान्त देखिये वेदज्ञ महाशयजी ! उपरोक्त प्रमाण, उक्त वेद शास्त्र से संशोधन करके बहिष्कृत करेंगे या मनमानी शिशुपालवत् धर्म का अस्तित्व बचाने के लिए 'सर्वनाशे समुत्पन्ने धर्मं त्यजति

पण्डितः’ का अनुकरण करते हुए अथर्ववेद और श्रीमद्भागवत महापुराण को ही नेपाल अधिराज्य भर में त्याज्य है, ऐसी घोषणा करवायेंगे ? यह सिद्धान्त सविनय अनुरोध करता है कि ‘पक्षनाशे समुत्पन्ने धर्मं त्यजति पण्डितः’ की ओर जाकर धर्मग्रन्थ शास्त्रादि का तो परित्याग मत कीजिये जी ! निष्पक्ष विचार-विवेकशील बनकर दृढ़तापूर्वक सार तत्त्व का निर्णयवत् निष्कर्ष निकालकर अपनाने का सानुरोध करते हैं।

श्रीमन्नियानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त ने तो सम्पूर्ण ‘आप्तोपदेशानुकूल’ गौरव-लाघवपूर्वक ॐकार प्रणव के पूर्णकला युक्त ज्ञान से निश्चित किये गये ‘ब्रह्ममन्त्र’ श्री कृष्ण नामाङ्कित तारक मन्त्र द्वारा ही मुक्ति मानी है क्योंकि यह श्रीमन्नियानन्द ‘यथा खरश्चन्दन भारवाही’ की तरह का नहीं है, बल्कि ‘सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः’ शास्त्रोक्त प्रमाण पर अविकल्प दृढ़तापूर्वक तटस्थ होने के कारण ब्रह्मवाक्य ‘परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परागतिः’ परात्पर पूर्णब्रह्म परमात्मा को अक्षरातीत दिव्य ब्रह्मधाम में विराजमान मानता है। इसीलिए आधी भरी हुई गगरी की तरह गड़गड़ाते हुए नहीं चलता।



❀ देख लीजिये शंका-उपशंकावाले

मर्मज्ञजी ! ❀

निम्नोक्त प्रकार श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धांत की गौरवता-मान्यता-एकाग्रता और कट्टरता की गुह्यातिगुह्यता को निहारकर देख लीजियेजी ! यथा -

कृष्णं त एम रुशतः पुरोभा -

श्चरिष्वर्चिर्वपुषामिदेकम् ।

यदप्रवीता दधते ह गर्भं

सद्यश्चिज्जातो भवसी दुदूतः ॥

- (ऋग्वेद, मं. ४/सू. ७, अ. १, मं. ९)।

अतः उक्त वेद मन्त्रान्तर्गत आए हुए 'कृष्णं' पद का अर्थ सायणाचार्य भाष्य और नीलकण्ठ भाष्य में यदि आप 'यथा खरश्चन्दन भारवाही' दर्जे में नहीं हैं, तो देखियेजी, शंका समाधान से ही जीवन सफल कृतकृत्य होता है। पुनः अवैदिक और अहिन्दूरूपी बकवास के पाप का भार भी तो सिर पर उठाना ही पड़ेगा ! अतः

**कृष्णं त एम इति, हे भूमन् ते तव
रुद्ररूपेण पुरस्तिस्त्रोरुशतो नाशयतः यद्वा
पुरः स्थूल सूक्ष्मकारणदेहान् ग्रसतस्तुर्य
स्वरूपस्य यत्कृष्णं भाः सत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं
तत्त एम प्राप्नुयाम, यस्य तव एकमिति एकमेव**

अर्चिर्ज्वालावदंशमात्रं समष्टि जीवं वपुषां
 देहानामनेकेषु देहेषु चरिष्णु भोक्तृरूपेण वर्तते
 यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतं
 गमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता
 निरुद्धगतिर्निगडे ग्रस्ता देवकीत्युर्थः (कृष्णाय
 देवकी पुत्रायेति छान्दोग्ये) देवक्या एव
 कृष्णमातृत्वदर्शनात्सा स्वगर्भे दधते धारयति
 दध धारणे इत्यस्य रूपं ह प्रसिद्धं सः त्वं जातः
 गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्य इदु सद्य एव उ
 निश्चितं दूतः दूनोतीति दूतः मातुः
 खेदकारोऽतिवियोगदुः खप्रदो भवसीत्यर्थ
 एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति
 सूचितम् ।।

- (नीलकण्ठ भाष्य) ।

पुनश्च अन्तिम महापुराण श्रीमद्भागवत के स्कन्ध १२/३-५१ में
 स्पष्ट करके समझाया गया है। यथा -

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं ब्रजेत् ।।

- (भा. १२/३/५१) ।

अनेक धर्म धरा विषे, तीरथ वास वसन्त ।
 पर न आवे तोले एकने, मुख श्री कृष्ण कहन्त ॥
 मेहेराज कहे मुख ए धन, जो वली रुदे रमन्त ।
 चौदे भवन ते जीतियो, धन धन ए कुलवन्त ।
 पर न आवे तोले एकने, मुख श्री कृष्ण कहन्त ॥

- (निजानन्द सैद्धान्तिक आह्वान) ।

उपरोक्त प्रमाणों द्वारा श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त के निर्णयात्मक तत्त्व 'श्री कृष्ण' के नामरूपी रस्सी में 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' ब्रह्म प्रतिपादन करने के सम्पूर्ण आप्तोपदेशरूपी धर्मग्रन्थ, वेद, शास्त्र, पुराण, तन्त्रग्रन्थों को एक ही माला में पिरोये हुए दाने सदृश मानते हैं। यसर्थ इस सिद्धान्त ने 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययः' तथा 'अविरोधान्तु यो धर्मः निश्चित गुरुलाघवम्' पूर्वक सम्पूर्ण शास्त्र वचनों को यथायोग्य मान्यता दी है और उक्त शास्त्र प्रमाण द्वारा परब्रह्म परमात्मा के अनन्त नामों में मुख्य नाम श्री कृष्ण को मानते हैं। यदर्थ इस सिद्धान्त के अनुयायी इष्टदेव नामाङ्कित तारतम मंत्र का जाप करते हैं। जिस तारक मंत्र में इष्टदेव का 'श्री कृष्ण' नाम अंकित है, उस मंत्र को तारतम्य मंत्र कहते हैं। यसर्थ कृष्णलीला को ब्रह्मलीला और श्रीमद्भागवत महापुराण को मुख्य शास्त्र मानते हैं, परन्तु अन्य की भाँति 'तोते के राम-राम की तरह नहीं' ।

अच्छा वेदज्ञजी! उक्त प्रकार यथा तथ्य आप्तोपदेश की मान्यतानुसार ही श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय

सिद्धान्त निम्न प्रकार के शास्त्रोक्त प्रमाणों से विमुख न होकर, हमेशा सावधानी से रहते हुए अन्य जिज्ञासुजनों को भी सावधान करने को अधर्म-अवैदिक नहीं समझते; वैदिक धर्म ही समझते हैं।
यथा-

‘भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ।’

हे भृगुश्रेष्ठ ! मनुष्य मात्र को तारनेवाला कृष्ण नाम है।

‘मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।’

- (गीता)।

अर्थ: स्वयं भगवान श्री कृष्णजी कहते हैं-हे अर्जुन ! मुझमें ही अचल दृढ़ मनवाला हो जा; मद्भक्त-मेरी ही लीला आदि का गुण-गान, श्रवण-कीर्तन, मनन और पठन-पाठन करनेवाला बन जा एवं मन, वाणी और शरीर से नित्य-निरन्तर अनन्यतापूर्वक श्रद्धा-भक्तियुक्त पूजनादि करके मुझे ही साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर ।

सप्तकोटि महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।

एक एव परो मन्त्रः कृष्णेत्यक्षरद्वयम् ॥

- (ब्रह्म वैवर्त पुराण) ।

अर्थ: सात करोड़ महामन्त्रादि में से चित्तवृत्ति स्थिर करके आत्मा को पार लगानेवाला मन्त्र मात्र एक ही है। वह है, दो अक्षरयुक्त ‘कृष्ण नामाङ्कित मन्त्र ।’

‘कृष्णमन्त्रविहीनस्य पापिष्ठस्य दुरात्मनः ।’

- (गौरी तन्त्र) ।

हे जिज्ञासु आत्माओं ! सावधान !! अर्थ स्पष्ट ही है।

इत्युक्तम् -

**गाणपत्येषु शैवेषु तथा शाक्तेषु सुव्रत !
सर्वेषु मन्त्रवर्गेषु वैष्णवं श्रेष्ठमुच्यते ॥
वैष्णवेषु च मन्त्रेषु कृष्णमन्त्राः फलाधिकाः ।**

- (गौतमीये) ।

अर्थ: गणेश मन्त्र, शिव मन्त्र और शक्ति मन्त्रादि से विष्णु मन्त्र श्रेष्ठ है। अतः विष्णु मन्त्र से भी अत्युत्तम फलदायक कृष्ण मन्त्र है। यसर्थ कहा गया है कि-

**मन्त्रश्चिन्तामणिः प्रोक्तः शोडषार्णो महामनुः ।
ब्रह्मप्रियाणां सान्निध्यं ददात्येव न संशयः ॥**

- (पद्म पुराणे) ।

अर्थ: उक्त 'कृष्ण नामाङ्कित' सोलह अक्षर का महामन्त्र चिन्तामणि रूप है। ब्रह्मप्रियाओं के माध्यम से परमात्मा अक्षरातीत ब्रह्म, संसार की सर्वात्माओं को यह मन्त्र दिलानेवाले हैं। इस बात में जरा-सा भी संशय नहीं है। अच्छाजी! संशयशील आत्माओं की कौन-सी गति होगी ?

यदुक्तं -

**चाण्डालादधर्मी पापी श्रीकृष्णविमुखो नरः ।
नास्ति तस्य च वै धर्मो नाधिकारी च कर्मणाम् ॥**

- (महाभारत) ।

अर्थ: 'श्री कृष्ण' नामाङ्कित मन्त्र, धाम, लीला आदि का महत्त्व न जानने, न मानने और न समझनेवाले जन तो चण्डालों से भी पापी होते हैं। ऐसे लोगों द्वारा किये-कराये धर्म (दानादि) और कर्म (संस्कार शुद्धादि) का फल नहीं मिलता है। वह निष्फल-व्यर्थ हो जाता है।

उपरोक्त प्रमाणानुसार श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्तान्तर्गत पूर्णातिपूर्ण विश्वास-श्रद्धा मान्यता होने के कारण श्रीमद्भगवद्गीता और अन्यान्य शास्त्र पुराणादि में कहे प्रमाण अनन्य भक्ति में योगारूढ़ होकर श्री कृष्ण नामाङ्कित मन्त्र द्वारा अक्षरातीत श्री कृष्ण पूर्णब्रह्म परमात्मा की भजन-भक्ति करते हैं।

अतः वेदज्ञ महाशयजी! एक बात पूछ लूँ? उक्त शास्त्र में कहे गये गणेश, शिव, शक्ति और विष्णु मन्त्रवाले भक्तजनादि अँकार गायत्री मन्त्र रहित थे या सहित होकर उन्हीं इष्ट का मन्त्र जपते थे? और पुनः उक्त भक्तजनादि यज्ञोपवीत चिह्नरहित, शिखा-सूत्रहीन थे या आपश्री की दृष्टि में ही कमी थी अथवा मोतियाबिन्द के परवश थे? अब निःसंकोच बता दीजिये कि श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्तानुयायी भक्त, जिनके साथ आपश्री की ही विद्वत्ता निर्णयात्मक निष्कर्ष लेने हेतु पहुँची, उस समय वे प्रणामी भक्त, पुरुष जाति के थे या स्त्री जाति के? यदि पुरुष जाति के ही थे, तो यज्ञोपवीत के अधिकारी थे या अनधिकारी थे? नहीं, वे भक्त पुरुष यज्ञोपवीत के अधिकारी होने के साथ ही आपश्री जैसे की विद्वत्ता निर्णयात्मक निष्कर्ष ढूँढ़ते हुए गयी थी, तो क्या वह व्यक्ति यज्ञोपवीत चिह्न और शिखा रहित

था ? या तो आपश्री की विद्वत्ता ही 'आँख के अंधे नाम नयनसुख' होकर मुँह और कानाधार अडिग थी ?

अतः वेदज्ञजी ! जो लोग यज्ञोपवीत चिह्न और शिखा सहित व्यक्ति के पास जाकर "ॐ कार मानते हैं ? गायत्री मंत्र जपते हैं ?" कहते हुये पूछते हैं, तो उन प्रश्नकर्ताओं को क्या कहें और कहाँ पहुँचायें ? अब आप स्वयं ही निर्णयकर कहियेजी ! श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्तानुयायी भक्तजन 'ॐ'-गायत्री सहित इष्ट मन्त्रवाले हैं या रहित इष्ट मन्त्र जपते हैं ?

अब तो मर्मज्ञ वेदज्ञ महाशयजी !

इस सिद्धान्त अन्तर्गत की मान्यता और दार्शनिक लक्ष्य के प्रति उपरोक्त प्रमाणों द्वारा समझाते-दिखाते भी आपश्री के हठाश्रय विकार निर्मूल न होकर 'पयः पानं भुजङ्गानाम्' सदृश ही होते हों और पूर्वाग्रहवत् ही निश्चित रहें 'सूर्यस्य किं दूषणम्' सदृश, तो इसमें दोष किसका ? पुनश्च-

**ओमिति त्रिगुण बीजं भूर्भु स्वः स्वश्च व्याहृतिः ।
लोकवाचकः विज्ञेयस्तदिति ब्रह्मवाचकः ॥
सवितुस्सृष्टिकर्तुर्यस्तस्य देवस्य या प्रभा ।
वरेण्यं भर्गो धीमहि यो न धियः प्रचोदयात् ॥**

- (सम्प्रदाय मान्यता) ।

(श्री निजानन्दी प्रणामी मूर्ति-पूजा नहीं मानते हैं-क्यों और कैसे?)

❀ मूर्ति के विषय ❀

विवेकशील सज्जनवृन्द !

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त 'अक्षरातीत ब्रह्म' निम्न प्रकार मानता है। यथा -

**सच्चिदानन्दधर्मावच्छिन्न साकार शुद्धस्वरूप ।
अनन्तऽद्वैत स्वलीलाविग्रह किशोरावस्थारूप ॥**

ब्रह्म सच्चिदानन्द धर्मावच्छिन्न शुद्ध साकार नित्यविग्रह 'श्रुतो युवा स इन्द्रः' परमात्मा नित्य युवा हैं, ऐसा सुनते हैं-(सामवेद, छन्द आर्चिक १०/४/९) किशोर स्वरूप स्वलीलाद्वैत एवम् अखण्ड धाम, लीला आदि अनन्त सामग्री एवम् अनन्त शक्ति सम्पन्न मानते हैं।

उपरोक्त 'इष्टदेव' शुद्ध साकार होने के कारण वेद, शास्त्र, पुराणादि के आप्तोपदेशानुसार श्रीमद्भागवत महापुराणोक्त -

**शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥**

- (श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११/२७/१२)।

उक्त आठ प्रकार की मूर्तियों में से मनोमयी और वाङ्मयी मूर्ति को मान्यता प्रदान करते हैं। यसर्थ अष्टविध अन्तर्गत ही मानते हैं।

पुनः विधानकर्ता-आप्तपुरुषों के मन्तव्य की समझ प्राप्त किए बिना

ही आप्तोपदेशों के प्रति दोषारोपण करने की वैदिकता को व्यर्थ मानते हैं। अरेजी ! देख लीजिये!! पुनश्च-‘तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः’ (भा. माहात्म्य-३/६१/६२)। उक्त मूर्ति है या अमूर्ति? अष्टविध में से कौन-सी मूर्ति है? इसे विचार-विवेकहीन मूर्ति तो नहीं कहेंगे? इस मनोमयी-वाङ्मयी मूर्ति को माननेवाले भक्तजन और सिद्धान्त अवैदिक-अहिन्दू हैं, यह सिद्ध करनेवाले आप्तोपदेशरूपी वैदिक प्रमाण संग्रह करने का समय आ गया है, संग्रह करते रहियेगा। परन्तु वेद-शास्त्रादि में विधि और निषेध दो प्रकार की मान्यताएँ मिलती हैं। तदनुसार निषेध पाषाणादि कृत्रिम मूर्ति-पूजा श्रीमन्निजानन्द सम्प्रदाय सिद्धान्त की परम्परा में नहीं है। इसके साथ-साथ यह सिद्धान्त अन्य छः प्रकार की मूर्तियों की पूजा परम्परा की निन्दा और निषेध भी नहीं करता है क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि -

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

- (गीता, ३/२६) ।

जिन विषयों में शास्त्रादि के आप्तोपदेशों ने ही मान्यता नहीं दी है, उस विषय में चाहे लाखों-अरबों रुपये ही क्यों न खर्च किये जाएँ, परन्तु अमान्य तो अमान्य ही रहेगा! कारण-

‘तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।’

- (गीता) ।

उक्त कहे प्रमाण उन अनन्य भक्ति करनेवाले ज्ञानीजनों

के लिए पाषाणादि मूर्तिपूजन निम्नोक्त प्रकार निषेध है।

यथा -

प्रमाण नं. १ -

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥

- (भागवत, ३/२९/२१-२२) ।

अर्थ: भगवान कहते हैं-मैं आत्मा रूप से सभी जीवों में स्थित हूँ इस कारण जो मुझे छोड़कर केवल प्रतिमादि से ही मेरी पूजा करते हैं, उनकी वह पूजादि स्वाँग-तमाशा मात्र ही है ॥ २१ ॥

मैं सबकी आत्मा, परमेश्वर सभी प्राणियों में स्थित हूँ। ऐसी दशा अवस्था में जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके सिर्फ प्रतिमा-पूजन में ही लगे रहते हैं, उनकी वह पूजा मानों भस्म में हवन करने जैसी ही है ॥ २२ ॥

पुनः उपनिषदादि में भी कहा गया है, यथा -

तद्ब्रह्म प्रतिपद्येत मन्त्रमतेत् त्रयंश्रुतेः ।
न कश्चित्पूजयेन्मूर्तिम्पाषाणादिक कृत्रिमम् ॥

अर्थ: जिसके निमित्त ये तीन मन्त्र बताए गए हैं, उन ब्रह्म की ही उपासना करना, परन्तु पाषाणादि कृत्रिम मूर्ति को कभी भी नहीं पूजना कारण पाषाणादि मूर्ति निर्जीव हैं, बनाए हुए-जड़ हैं,

कृत्रिम हैं। यसर्थ अपूज्य हैं। ब्रह्म सत्य, अखण्ड और सर्वज्ञ एवम् क्षणिक आदि दोषों से रहित होने के कारण पूज्यतत्त्व की अपूज्य में परिकल्पना करने से शास्त्रादि मत में विकल्प आ जायेगा। यसर्थ पाषाणादि मूर्ति-पूजन योग्य नहीं, अयोग्य है।

प्रमाण नं. २ -

**न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृत्सु च ।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥**

- (गरुड़ पुराणे) ।

अर्थ: काष्ठ, पत्थर और मिट्टी अर्थात् जड़ादि मूर्तियों में देवत्व नहीं है, नहीं रहता, परन्तु भावना में ही देवत्व बसता है। यसर्थ भावना मुख्य कारण है। पुनः भावना भी शास्त्र विधानानुसार होनी चाहिये ।

प्रमाण नं. ३ -

**यावदीश्वरभावः स्यात्पाषाणप्रतिमादिषु ।
जलादौ तीर्थभावश्च तावदज्ञानमात्मनः ॥**

- (नारदपञ्चरात्र उत्तरखण्डे) ।

अर्थ: हे साधक आत्माओं! पाषाणादि मूर्ति में जब तक ईश्वर भाव और जलादि में तीर्थ भाव रहता है, तब तक स्वयं को अज्ञान मूढ़-दशा में जानना। यसर्थ अज्ञान से सज्ञान में परिवर्तन होना जरूरी है।

प्रमाण नं. ४ - पुराण संहितायां यदोक्तं -

**मामानन्दं परित्यज्य पाषाणं पूजयिष्यथ ।
लीलाक्रीडारसानन्दानुभवं परिहास्यथ ॥**

अर्थ:- पुराण संहिता में श्री कृष्णजी सखियों के प्रति कहते हैं-हे मेरी प्रिय सखियों! आप लोग आनन्द स्वरूप मुझे छोड़कर मृत्युलोक में जा रही हो, परन्तु वहाँ जाकर मुझे भूलकर मिट्टी-पत्थरादि के पार्थिव 'इष्टदेव' की परिकल्पना करके पूजने लगोगी और मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव करानेवाले दार्शनिक ज्ञान की भी निन्दा करने और हँसी उड़ाने लगोगी ।

अतः शास्त्रादि में अज्ञान से सज्ञान में परिवर्तित होने के विषय की बार-बार घोषणा की जा रही है । यसर्थ अहो वेदज्ञ-मर्मज्ञजी! उपरोक्त आप्तपुरुषों के मतानुसार निम्न श्रीमद्भागवत महापुराण और भगवद्गीता के प्रमाण का मिलान कर निष्कर्ष निकालने का कष्ट कीजिये तो! आज तक श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त के प्रति किये गये कपोल-कल्पित शिशुपालवत् अपराध का प्रायश्चित्त करने हेतु तीर्थराज प्रयाग में पहुँच जायेंगे!

प्रमाण नं. ५ -

**यस्मात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि -
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥**

- (श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धे ८४/१३) ।

अर्थ: यज्ञोत्सव में वसुदेव से भगवान श्री कृष्णजी ने स्वयं कहा है-हे महात्मा एवम् सभासदों! जो मनुष्य वात, पित्त और कफ-इन तीन धातुओं से निर्मित शव सदृश शरीर को ही 'आत्मा' 'मेरा' 'मैं' और 'स्त्री-पुत्रादि' को ही 'अपना' तथा मिट्टी, पत्थर, काष्ठादि पार्थिव विकारों में ही 'इष्टदेव' को मानते हैं तथा जो केवल जल में ही तीर्थभाव रखते-समझते हैं, तो वे मनुष्यों में नीच, नरपशु में भी गधे ही हैं।

उक्त महापुराण श्रीमद्भागवत अन्तर्गत स्थित विषयों को स्पष्ट करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २/१६ में स्वयं भगवान श्री कृष्णजी पुनः कहते हैं, यथा -

प्रमाण नं. ६ -

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥**

- (श्रीमद्भगवद्गीता, अ. २/१६) ।

अर्थ: असत् में सत भाव का अस्तित्व ही नहीं रहता है। सत में असत् भाव का अस्तित्व नहीं रहता है। सदसत्-इन उभय भावों को विवेकशील तत्त्वदर्शी ही जानते और मानते हैं।

अब आपने उक्त श्रीमद्भागवत महापुराण और श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त अन्तर्गत की मान्यताओं का निष्कर्ष निर्णयात्मक रूप से निकाल लिये होंगे ? अतः निजानन्दी-प्रणामी भक्तजन वैदिक हैं या अवैदिक ? अब उन्हें आप क्या कहेंगे ? बोलियेजी ! अब आप यह बताइये कि प्रणामी भक्तजन पाषाणादि कृत्रिम पूजन क्यों नहीं करते हैं ? पुनः पाषाणादि

की कृत्रिम मूर्ति (वह भी बाँह भर की) पूजन करने पर शास्त्रादि में भी मुख्यातिमुख्य श्रीमद्भागवत महापुराण के वचनानुसार कौन-सा श्रेयरूपी पद प्राप्त होता है ? अब इस स्थिति में 'पक्षनाशे समुत्पन्ने धर्मं त्यजति पण्डितः' बन जायेंगे कि श्रीमद्भागवत महापुराण को ही 'अमान्य है', ऐसी नेपाल अधिराज्यभर में घोषणा करवायेंगे ? उक्त शास्त्र वचन विमुख वेदज्ञ-मर्मज्ञ होकर भी 'अन्यस्य दोषगुण चिन्तन्माशु मुक्त्वा' न करेंगे, तो 'शास्त्र-पुराण खड्डे में पड़े, स्त्री-पुत्रादि भूख से मरें।' ऐसा नहीं होगा ?

अरे, देख लीजिये तो ! जो स्वयं समाज के बीच वेदज्ञ-मर्मज्ञ बनते हैं, शास्त्र-पुराणों के पन्ने मात्र ही फिराते हैं तथा श्रीमद्भागवत महापुराण के विरुद्ध श्री कृष्ण लीला और श्री कृष्ण तत्त्व से विमुख, स्वयं तो गोखर हो-होकर जीवन ही व्यर्थ करते हैं, पुनः वे अन्य को भी गधेतुल्य साबित न कर पाने पर साबित करने हेतु वितण्डावाद की सृजना करते हैं। अतः अन्य अज्ञात सिद्धान्त के प्रति कलम चलानेवालों की शास्त्र का मन्तव्य दर्शानेवाली कलम गोखर (गधा) है या भागवत महापुराण के तात्पर्य को छिपाते हुए आम जनता की आँखों में पट्टी लगानेवाली कलम गोखर (गधा) है ? अब यहाँ स्पष्ट बोलने की स्थिति आ गई है। बोलियेजी !

आज बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में अन्धाधुन्ध उल्लू सीधा करना दुर्लभ है-असम्भव है। यह आत्मा-परमात्मा साधन विषय कलियुग सं. ३१३७ की तरह का ब्राह्मण युग नहीं है। पुनः धर्म-पालन में भौतिक दृष्टि की स्वार्थपूर्ण ध्येयपूर्ति करने की दौड़-धूप करनेवालों के लिए अनेकानेक ऋषि-महर्षियों के आप्तोपदेश

प्रामाणिक रूप में सामने जीवित हैं। यदि अपनी आँखों में मोतियाबिन्द निकला हो, तो क्या अन्य की आँखों में पट्टी बाँधने हेतु भाग दौड़ करने से स्वयं की आँखों का इलाज नहीं हो सकता है? क्योंकि शास्त्र-पुराणों में भरपूर औषधियाँ हैं। पुनः युग भी तो वैज्ञानिक युग है। वेदज्ञजी! अत्यधिक क्यों कहूँ? कहा भी गया है कि 'किं बहुना सुज्ञेषु' पुनः आपश्री तो वेदज्ञ-मर्मज्ञ न ठहरे! इसी कारण से भागवत महापुराण के निम्नोक्त सार वचन का मनन कर लेना जी! यथा-

**धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान् ।
 सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ॥
 अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा ।
 सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥**

- (भागवत माहात्म्य, अ. ४/८०) ।

अर्थ: श्री गोकर्णजी पिता आत्मदेव को अन्त्योपदेश करते हुए कह रहे हैं-हे पिताजी! श्री कृष्ण का भगवद्भजन ही सबसे उत्तम धर्म है। नित्य निरन्तर उन्हीं का आश्रय लीजिये। अन्य सब प्रकार के धर्मों से आत्मोद्धार की आशा न रखिये और नित्य-निरन्तर साधुजन एवम् भगवद्भक्त पुरुषों की सेवा कीजिए। पुनः शीघ्रातिशीघ्र अन्य के गुण-दोष, निन्दा-स्तुति छोड़ दीजिये। एकमात्र भगवान श्री कृष्ण की लीला-रस का पान कीजिए। इति -

उपासनीय सैद्धान्तिक धर्मग्रन्थ बहिष्कार

❀ करने के धृष्टता प्रति ❀

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धांत के अंतर्गत का “सैद्धान्तिक धर्मग्रन्थ”, जो लाखों जनसमाज के बीच तीन सौ वर्ष पूर्व से उपासनीय स्थान में पूजित होते आया है। ऐसे पूर्व पूजित ग्रन्थ के प्रति हठात् बहिष्कृत करने के सुझाव की घोषणा करनेवाले वेदज्ञ-मर्मज्ञजनों द्वारा इस सिद्धान्त की गहनता को विश्वास के साथ हृदयङ्गम न कर सकने के कारण शास्त्रोक्त विधि से जवाब देना पड़ रहा है। यथा -

**दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा र्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥
ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय सपर्यया ।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥**

- (श्रीमद्भागवत, स्क. ७/अ. १४/३९, ४०) ।

अर्थ: हे युधिष्ठिर! जब त्रेता आदि युगों से विद्वानों ने देखा कि मनुष्य परस्पर एक-दूसरे का अपमान आदि करने लगा है, तब उन विद्वानों ने उपासना की सिद्धि हेतु भगवान के प्रतिमा की प्रतिष्ठा की ॥३९॥

तदुपरांत कतिपय मनुष्य बड़े श्रद्धावान् बनकर विभिन्न सामग्रियों द्वारा प्रतिमा-मूर्ति में ही भगवान का भाव रखकर उसी की पूजा उपासना करने लगे। परन्तु जो मनुष्य चेतन के प्रति द्वेष,

ईर्ष्या, निन्दा करते हैं और जड़ (प्रतिमा) मात्र की उपासना करते हैं, ऐसे मनुष्य को सिद्धि मिलती ही नहीं है ॥४०॥

अहो वेदज्ञजी! श्रीमद्भागवत ग्रंथ को आप मात्र निर्वाह का साधन मानते हैं या फिर उसके तात्पर्य को भी प्राप्त किया है? या ग्रन्थ के ज्ञान में ही विश्वास रखनेवाले मर्मज्ञहीन वेदज्ञ बने हैं? बताइयेजी..... बोलियेजी! आप श्री तो वेदज्ञ ही हैं न! अब ये बताइये कि जब उक्त प्रमाण द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई ही नहीं थी, उस समय से भी पूर्व लोग किसकी उपासना करते थे? अतः मूर्ति की प्रतिष्ठा होने के बाद भी कितनों ने मात्र मूर्ति की ही पूजा-उपासना की तो अन्य लोगों ने क्या किया? आप तो वेदज्ञों में भी सनातन हैं न। यसर्थ ही श्रीमन्निजानन्द सिद्धान्त आपको पूछ रहा है कि आप मूर्ति सनातन में हैं या धर्म सनातन में हैं? या आपश्री भाषा सनातन में हैं या ज्ञान सनातन में हैं? अब तो आपको स्पष्ट बताना ही होगा कि आपके द्वारा पालनीय सनातन धर्म कौन-सा है?

अब वेदज्ञ महाशयजी ! आप यदि मूर्ति सनातन में हैं तो प्रश्न खड़ा होता है कि मूर्ति प्रतिष्ठा के पूर्व क्या आपका अस्तित्व ही शून्य था? नहीं, धर्म सनातन के पक्ष में आप अपना अस्तित्व मानते-समझते हैं, तो मूर्ति सनातन से पूर्व सनातन में जाने से आपको कौन-से नर्क में पहुँचने का डर लग रहा है? अहो! मुझे तो 'विवरण पत्र' देखने से ऐसा लगता है कि वेदज्ञजी अन्य सनातनों का बहिष्कार करके 'भाषा सनातन' के उपासक हो गये हैं। वेदज्ञजी! आपकी अति गहनशील मर्मज्ञता को देखने के कारण ही यह पूछने

के लिए बाध्य होना पड़ रहा है कि आप भले भाषा सनातन में ही सही, परन्तु कौन-सी भाषा ? महाशयजी का तात्पर्य देव भाषा से ही है, ऐसा लगता है। वह भी युक्तियुक्त और ठीक ही है। यदि उपास्य के स्थान में रखे जानेवाले 'भाषा उपासक' के निमित्त तो भाषा का स्थान उपास्य के स्थान में है, तो न माननेवालों के लिए भाषा तो उपास्य का तत्त्ववत् ज्ञान बोध करानेवाला-समझानेवाला साधनांश मात्र होता है। यसर्थ स्व-भाषा द्वारा की गयी भावात्मक प्रार्थना-स्तुति करते समय चाहे देवभाषा हो, चाहे अन्य कोई भी भाषा हो, जब तक अज्ञात रहते हैं, तब तक भाव प्रकट नहीं हो सकता। यसर्थ भाषा विषय में ज़िद करना बेप्रामाणिक मूढ़ाधीश की तरह ही सिद्ध होता है।

अतः देख लीजिये वेदज्ञजी ! प्रामाणिकता समझ लीजिये। श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त कर लीजिये। श्रीमद्भागवत महापुराण के स्क. ८/अ.३/२५-२६ में गजेन्द्र ने परमात्मा की प्रार्थना करते हुये निम्न प्रकार से कहा है-

जिजीविषे नाहमिहामुया कि-

मन्तर्बहिश्चावृतये भयोन्या ।

इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव -

स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२५॥

अर्थ: हे प्रभु! मुझे जीने की इच्छा नहीं है। इस हाथी के जीवन को अन्दर और बाहर-उभय प्रकार से अज्ञान ही अज्ञान ने घेरा हुआ है। ऐसे जीवन की रक्षा करके क्या करना ? हे प्रभु! मैं तो

आत्म-प्रकाश को ढँकनेवाले इस अज्ञानरूपी अंधकार से मुक्त होना चाहता हूँ, जो कालक्रम से स्वयं तो छूट ही नहीं सकता। यह तो केवल भगवत्कृपा और तत्त्वज्ञान मात्र से ही नाश होगा एवं छूट सकेगा।

पुनश्च -

**सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् ।
विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥**

- (श्रीमद्भागवत, ८/३/२६) ।

अर्थ: यसर्थ मैं उन्हीं परब्रह्म परमात्मा के शरणापन्न होता हूँ, जो विश्व रहित होकर भी विश्व के रचयिता और विश्वरूप में स्थित हैं तथा सम्पूर्ण विश्वात्मा के आधार-आश्रयरूप होकर लीला-क्रीड़ा करते हैं। उन्हीं अजन्मे परमपद स्वरूप ब्रह्म के चरणों में नमस्कार-प्रणाम करता हूँ ॥२६॥

अब बता दीजिये महाशयजी! उक्त प्रभु-प्रार्थना 'गजेन्द्र स्तुति' किस भाषा में की गयी थी? क्या गजेन्द्र द्वारा स्तुति-प्रार्थना करने से पूर्व ही उन्हें आपने देव भाषा की तालीम दी थी या अब आप गजेन्द्र द्वारा की गयी "भगवान की स्तुति" नामक अध्याय ही श्रीमद्भागवत से बहिष्कृत कर देंगे? या संशोधन करना ही अवशेष रहा है? यह तो 'भाषा उपासक' जनों के निमित्त अमान्य विषय में, अब आप क्या करेंगे?

अरे, मर्मज्ञजनों में अग्रगण्य वेदज्ञजी! देख लीजिये न !! चार पैरवाले गजेन्द्र में भी कितना विचार-विवेकपूर्ण ज्ञान है। गजेन्द्र कहता है-अज्ञानजन्य अन्धकार में से इस चेतन-आत्मा को पार

लगाना भगवत्कृपा और तत्त्वज्ञान के सिवाय हो ही नहीं सकता और अन्य कोई उपाय भी नहीं है। यह बात गजेन्द्र भी अच्छी तरह जानता है, नहीं ?

उक्त गजेन्द्र स्तुति से भी स्पष्ट होता है कि भाषा के चक्कर में तेली के बैल सदृश दो पैरवालों में से भी जो विवेकहीन और विचार-विवेक शून्य हैं मात्र वे ही फिरते हैं, नहीं ? अब उक्त गजेन्द्र ज्ञान के पश्चात् आप बताइये कि आप वेदज्ञजी ज्ञान सनातन में हैं या भाषा सनातन में ? आप तो मर्मज्ञ ज्ञान के अग्रगण्य सम्राट हैं, वह भी युगानुकूल सर्वज्ञ ही कहलाते हैं न ! भले कइयों शास्त्रों के अध्याय के अध्याय ही बहिष्कृत कीजिये, कइयों शास्त्र-प्रमाण ही संशोधित करते रहिये, चाहे मूर्ति सनातन में ही रह जाइये, चाहे भाषा सनातन ही जपते रहिये, परन्तु यदि कोई मूर्ति सनातन से भी पूर्व ज्ञान सनातन द्वारा परब्रह्म परमात्मा की उपासना करे, तो उसमें वेदज्ञजी (आपश्री) का सिर दर्द होने का कारण क्या ? कहीं आप स्व-आँखों की रोशनी तक ही देखने का, उसके आगे नहीं, ऐसा अधिकार जताते हुए प्रतिबन्ध तो नहीं लगाना चाहते हैं न ? अरे देखिये और विचार भी कीजियेगा कि यह सभी को ज्ञात हो चुका वैज्ञानिक युग है। अन्धे को चलाने जैसा सरल समझ रहे हैं क्या ? सोच-समझकर आगे बढ़ियेजी !

अहो ! महाशयजी, देखिये तो !!

**जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान् ।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥**

- (भागवत, ७/१४-३६)।

अर्थ: असंख्य जीवात्माओं से भरपूर इस ब्रह्माण्डरूपी महावृक्ष के एक मात्र आधारभूत मूल श्री कृष्ण ही हैं। इस रहस्यमय कारण से ही श्री कृष्ण की पूजा से समस्त जीवात्माओं की आत्म तृप्त होती है।

उपरोक्त प्रमाण को ही श्रीमद्भागवत में से बहिष्कृत करेंगे या - 'प्रणामी ने बताया है' कहेंगे ? अहो, वेदज्ञजी ! कितने शास्त्र-पुराण, अध्याय-प्रमाण संशोधन बहिष्कृत करेंगे या स्वयं ही बहिष्कृत हो जायेंगे ? अतः यदि आप मूर्ति सनातन और भाषा सनातन की खींचा-तानी में शामिल नहीं हैं और पूर्णकला युक्त ॐकार प्रणव प्रदत्त ज्ञान सनातन में श्रद्धा-विश्वास रखते हैं। पुनः श्रीमद्भागवत ग्रन्थ को हृदय से ही मानते हों, तो देखियेजी ! उक्त शास्त्र प्रमाण द्वारा सुनिश्चित किए गए परब्रह्म परमात्मा श्री कृष्ण की पूजा में एकनिष्ठ बन जाइये ! सम्पूर्ण वेद-वेदान्त, शास्त्र-पुराणादि द्वारा अविकल्प निर्णय किये हुए वे श्री कृष्ण ही हैं। पुनः श्री कृष्ण को स्वीकार करने पर कोई भी वेद, शास्त्र, पुराणादि का न तो बहिष्कार करना पड़ेगा और न कहीं संशोधन ही करने की जरूरत पड़ेगी और यदि न..... हीं, 'श्री कृष्ण तो द्वापर के हैं, मैं तो सनातन में भी अग्रगण्य हूँ।' पुनः 'भुक्तये न तु मुक्तये' ही मानते हैं, तो मूर्ति सनातन से भी पूर्व सनातन में ही एकनिष्ठ क्यों नहीं होते ? अतः निम्नोक्त प्रमाण कौन-से सनातन के पक्ष का है, देखेंगे ? यथा-

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।

देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥

-(भागवत, ९-१४/४८)।

अर्थ : हे परीक्षित! त्रेतायुग से भी पूर्व सत्ययुग के प्रथम चरण (पाद) में एक मात्र प्रणव-ॐ कार ही वेद था। सम्पूर्ण वेद, पुराण, शास्त्रादि उसी के अन्तर्भूत थे। पुनः देवता भी एक मात्र नारायण ही थे, अन्य कोई नहीं थे। अतः अग्नि भी एक ही थी और वर्ण भी एक मात्र 'हंस' ही था, अन्य नहीं थे।। ४८।।

उक्त शास्त्र प्रमाणाधार सनातन समझ सकते हैं कि नारायण देव से उत्पन्न नामधारी ब्राह्मणत्वहीन ब्राह्मण, उत्पन्नकर्ता नारायण से भी उग्र ब्रह्म बन गये ? देख लीजिये यह विचित्रता ! नारायणोपनिषदादि में स्वयं नारायण देव ही 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' - इस प्रकार कहते हुये ब्रह्मतत्त्व की खोज कर रहे हैं। परन्तु उन नारायण देव से उत्पन्न 'हंस' वर्ण से भी विकृत ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और क्षुद्रादि वर्णरूपी नामधारी ब्राह्मणों को तो देखो। ब्राह्मणत्व बिना के, ब्रह्मतत्त्व बिना के ब्राह्मण!! अरे, "ज्यों धूरत नाम धरावे धन्वन्त, पासे नहीं दमडी रोक" की तरह आश्चर्य नहीं लगता ? अब ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व को किसमें जानें और मानें ? आश्चर्य में भी, यह तो बड़ा रोचकदार आश्चर्य नहीं है ? उक्त नारायणजी के प्रति ही एकनिष्ठ सनातन का पालन क्यों नहीं करते ? कहीं 'कुलटाना कुलाङ्गनाः' की ही तरह योगेश्वर के प्रति योगारूढ़ हो जाने के डर के कारण तो ऐसा नहीं ? अंतः कुलोत्पन्न पूर्वजों-पूरखों से चले आये सनातन आज के वैज्ञानिक युग में 'ब्रह्मतत्त्व' के निश्चय विषय सनातन और ब्राह्मणस्थ ब्रह्मतत्त्व के विषय में जवाब दे पायेंगे ? यथा :-

**जन्मना जायते शूद्रः संस्कारेण द्विजोच्यते ।
वेदपाठी भवेद् विप्रो ब्रह्मं जानाति स ब्राह्मणः ।।**

अर्थ: जन्मते समय सभी क्षुद्रवत् उत्पन्न होते हैं, संस्कार करने के पश्चात् द्विज कहलाते हैं और वेदाध्ययन पूर्ण होने पर विप्र बनते हैं। अतः बिना ब्रह्मतत्त्व के ब्राह्मण, ब्राह्मण कैसे कहलायेंगे ? इस प्रकार से ब्रह्मतत्त्व के छल-छद्म से ब्रह्म ज्ञान बिना के ब्राह्मण ब्रह्म धाक जमाते हैं, ऐसा समझकर ही पहचान कराते हुए श्रुति देवीने कह दिया है कि 'ब्रह्म तत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा'- ब्रह्मतत्त्व निश्चित बिना के विप्र पाकरस (खीर) चलाने (पलटने) वाले पलटा (चम्मच) मात्र हैं। अतः वैसे ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व तो शून्य ही रहा। हँ! कुलोत्पन्न पूर्वो-पूर्वो से चले आये सनातन कुलोत्पन्न ब्राह्मण जैसे तो होंगे ही न! इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण सामने 'विवरण पत्र' दे रहा है।

अहो! देख लीजिये, वेदज्ञजी!! श्रीमन्निजानन्द-श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त में क्या अभी भी आपको 'ब्रह्मतत्त्व विषय स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि' देखने में आ रही है या नहीं? आपकी दृष्टि में वेद, शास्त्र और पुराणादि अमान्य और बहिष्कृत तथा संशोधन करने योग्य नजर आते हैं, तो 'दर्वी पाकरसं यथा' न कहें, तो क्या कहें? अच्छा तो कुछ भी न कहें। किन्तु 'ब्रह्मतत्त्वयुक्त ब्राह्मण किन्हें मानें?' मूर्ति सनातन में या भाषा सनातन में? ज्ञान सनातन में तो उक्त प्रमाण मिलता ही नहीं है-लगता ही नहीं है। प्रमाणाधार प्रामाणिक तत्त्व तो कहाँ का कहाँ जा पहुँचा!! अब किस तरह ज्ञान सनातन समझकर विश्वास करें और मान लें?

- शुभमस्तु

❀ व्रतबन्ध और वेदाध्ययन बिना के ब्रह्म ❀

(अरे रे रे ! क्या गज़ब की बात)

वेदज्ञ-मर्मज्ञजनों की सूक्ष्मता!

अतः देख लीजिये जी! भगवान शङ्करजी और ब्रह्माजी संपूर्ण अनुचरों के साथ एवम् देवगण, नारदादि ऋषि-महर्षियों सहित कंस के कारागृह में आकर देवकी के गर्भस्थ भगवान श्री कृष्ण की गर्भस्तुति करते हुये कहते हैं कि-

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं

सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं

सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

- (श्रीमद्भागवत महापुराण, १०/२/२६) ।

अर्थ: हे प्रभो! आप सत्य सङ्कल्पवाले हैं और मात्र सत्यरूप श्रेष्ठ साधन से ही प्राप्त होते हैं। अतः सृष्टि के पूर्व और प्रलय के पश्चात् तथा वर्तमान, आदि, अन्त असत्य सृष्टि में भी आप ही एक मात्र सत्य हैं। इस दृश्यमान् प्रपञ्चरूपी संसार के आप ही कारणरूप तथा सूर्य के प्रकाशवत् अन्तर्यामी रूप में भी आप ही विराजमान हैं। इस दृश्यमान् संसार के परमार्थ स्वरूप एवम् मधुर वाणी तथा समदर्शन के प्रवर्तक सत्यस्वरूप प्रभु! हम सभी आपके शरणापन्न होने आये हैं।

अब उपरोक्त प्रार्थना-स्तुति करनेवाले ब्रह्मादि देवों ने बड़ी

भारी गलती की है न? कैसे अज्ञानी और अविद्वान हैं कि उस समय व्रतबन्ध और वेदाध्ययन (कर्म संस्कार हुआ था ?) हो चुका था ? हैं! गर्भस्थ बालक के बढ़ने का कर्म तो हो ही रहा था, ऐसा कह सकते हैं, परंतु क्या गर्भ के अन्दर ही वैदिक कर्म-व्रतबन्धादि पूरे कर लिए गए थे ? अब श्रीमद्भागवत में वर्णित ब्रह्माजी आदि देवों द्वारा की गई वेद-स्तुति भी क्या प्रणामी का ही पक्ष लेती है ? पुनः आप 'ये सब भी अमान्य है'-ऐसा कहते हुए संशोधन करके समयानुकूल बनाने के लिए बहिष्कृत कर देंगे क्या ? यह श्रीमद्भागवत पुराण है, श्रुति-स्मृति नहीं। यसर्थ अमान्य कहते हुए प्रमाण पेश कर दीजिये कि 'श्रुति स्मृति विरोधेतु श्रुतिरेव गरीयसी' मनुकल्लूक भट्ट। परन्तु यदि अन्य प्रमाणों में भी आपको मनुकल्लूक भट्ट रक्षक होकर बचाते, तो आप श्रुति में ही पैर टिका लेते थे। किन्तु यहाँ आप स्वयं श्रुतिवक्ता ब्रह्माजी की ही स्तुति अमान्य कर स्व-पक्ष के विनाश के कारण ब्रह्माजी को भी प्रणामी कहेंगे क्या ?

पुनः दूसरी जगह श्रीमद्भागवत, स्कंध १०-१४/३२ में भी 'अहो भाग्यमहो भाग्यं' श्लोक में आये हुए 'नन्दगोपव्रजौकसाम्' कहनेवालों को उस समय प्रणामी बन्धुओं ने रिश्वत खिलाई थी क्या ? अब बताइये कि आप श्री क्या करेंगे ? यह 'नन्दगोपव्रजौकसाम्' को संशोधन करके 'वासुदेव मथुरायाम्' बनाने नहीं कहेंगे ? अब आप क्या करेंगे ?

उक्त बातें ब्रह्माजी द्वारा स्तुति-प्रार्थना करते समय कही गई हैं या वेदव्यास और अवधूत शुकदेव मुनि द्वारा ही प्रचार-प्रसार क्षेत्र में फैलाई गई हैं, वह भी उस युग में। अतः प्रणामी धर्म सिद्धान्त

प्रकट होकर भी त्रिशताब्दी पहुँच चुकी है। अब उपरान्त आप श्री कहाँ जाकर विश्राम करेंगे ? श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेवजी कहते हैं-‘एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्’ अर्थात् ब्रह्मशक्ति ग्यारह वर्ष तक ही श्री कृष्ण में अर्थात् ‘नन्दगोपव्रजौकसाम्’ में गुप्त रूप से निहित रही। यसर्थ श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त अनुयायीजनों का ऐसा ही अटल सिद्धान्त है। अतः वे अपने अटल सिद्धान्त से हिलेंगे ही नहीं, तो आप सब क्या करेंगेजी ? पुनः देखियेजी ! सनत्कुमार संहिता में भी ‘नन्दगोपव्रजौकसाम्’ को ही निम्नोक्त प्रकार घोषणावत् कहा गया है। यथा-

**साक्षात्कृष्णो ब्रजे नित्यं स्वांशेनैव विहारिणः ।
तस्यांशो हि मथुरायां वासुदेवो जगद्गुरुः ॥**

- (सनत्कुमार संहिता, प. ३५/५५) ।

उक्त प्रकार से साक्षात्स्वरूप बता दे रहे हैं या पक्ष ले रहे हैं ? अतः ये सनत्कुमार संहिता के रचयिता कौन हैं ? कोई मुसलिम बादशाह है या वे भी प्रणामी पक्षवाले ही हैं, न ? उक्त जनों ने यह क्यों नहीं जाना कि व्रतबन्ध और वेदाध्ययन करना बाकी ही है ? या तो वे आज बीसवीं शताब्दी में उत्पन्न कलिगुण ग्रस्त वेदज्ञजनों जैसे ब्रह्मतत्त्व के मर्मज्ञ रहस्य को पा ही नहीं सके ? उक्त विषय-वस्तुओं के प्रति श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त शंका करता है कि आज का वैदिक सनातन पक्ष श्रीमद्भागवत ग्रन्थ और श्री कृष्ण परमात्मा को मानता है या नहीं ? या तो “मौके पर तिवारी में, अन्यथा गौतम” की तरह मनुकल्लूक भट्ट का सूत्र

विस्मृत हो जाने की घड़ी मात्र में ही ?

‘श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।’

- (मनुकल्लूक भट्ट) ।

इस बीसवीं शताब्दी की क्षणिक अवधि में विचार-विवेक शून्य होकर ब्राह्मण युग की तरह स्वार्थियों का पीछा करते जीवन समाप्त हो रहा है। इस दुस्तर कलिकाल में अपना स्वार्थ परित्याग कर कौन किसे परमार्थता दिखायेंगे ? उक्त प्रमाण ‘विवरण पत्र’ नामक पुस्तिका के अन्तर्गत बार-बार दोहराते हुए श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के प्रति अहिन्दू और अवैदिक आक्षेप-आरोप थोपने का भरपूर प्रयत्न किये जाने के कारण ही स्व-सिद्धान्त अन्तर्गत के स्व-विचार विवेकवत् सबके समक्ष रखने हेतु मजबूर होना पड़ा। उपरोक्त प्रमाण ‘श्रुतिरेव गरीयसी’ के आधार पर अनेकानेक ऋषि-महर्षियों के आप्तोपदेशकी गौरवता के प्रति सूर्यतेज में बादलवत् प्रयोग भी बारम्बार होने के कारण ही निम्नोक्त प्रकार नाप-तौल करने से परमार्थ प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है। यथा-

विद्वांसो योगनिष्ठाश्च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः ।

तन्मुक्तिं नैवतेऽपश्यन् पश्यन्तः शास्त्रसंचयान् ॥

ततः सर्वैः सूर्यवाक्यं तन्मुक्तौ स्थापितं परम् ।

गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा ॥

-(भागवत माहा. ५/३८-३९) ।

अर्थ: उन सभासदों में से जितने भी वेदज्ञ, मर्मज्ञ, धर्मज्ञ, विद्वान, योगनिष्ठ, ज्ञानीजन तथा वेदवक्ता थे, उन सबने भी अनेकों

वेद-शास्त्रादि उलट-पुलटकर देख लिये, तब भी उसे (धुन्धुकारी को) मुक्ति दिलाने का उपाय नहीं मिल सका ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् उपस्थित सब लोगों ने यही निश्चय किया कि इस विषय में श्री सूर्यनारायणजी से पूछें । श्री सूर्यनारायणजी जो आज्ञा देंगे, वही करें। अतः गोकर्णजी ने अपने तपोबल द्वारा भगवान् सूर्यदेव की गति रोक दी ॥ ३९ ॥

उक्त प्रकार श्री सूर्यदेव से गोकर्ण द्वारा धुन्धुकारी के उद्धार विषय मुक्ति-मार्ग का साधन पूछा गया, तब श्री सूर्य भगवान् ने कहा कि-

**श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु ।
इति सूर्यवचः सर्वे धर्मरूपं तु विश्रुतम् ॥**

- (भागवत माहात्म्य, अ. ५) ।

अर्थ: श्रीमद्भागवत श्रवण द्वारा धुन्धुकारी प्रेत योनि से मुक्त हो सकेगा। अन्य कोई उपाय नहीं। यसर्थ श्रीमद्भागवत महापुराण का साप्ताहिक पारायण करो। श्री सूर्यदेव के उक्त धर्ममय वचन वहाँ उपस्थित वेदज्ञ, धर्मज्ञ, विद्वान् आदि सभी ने सुने।

इसके उपरान्त अब यहाँ विचार-विवेक करने के लिए सत्यग्राहीजनों को स्वतन्त्रता है कि वहाँ उस समय उपस्थित धर्म वेद मर्मज्ञ वेदज्ञानों ने श्री सूर्य भगवान् की आज्ञा 'श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु' अर्थात् 'श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक पारायण सुनालो' को सुनते ही, नहीं-नहीं! 'श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी'-मनुकल्लूक भट्ट प्रमाण को जिन्दाबाद कहकर नारे लगाते हुए जुलूस क्यों नहीं निकाले? सनातन पक्ष

का अस्तित्व बचाकर रखने के लिए भी झण्डा-उत्तोलन करके उसी शास्त्रार्थ की योजना करना क्या वहाँ उपस्थित वेदज्ञ, वैदिक सनातनी नहीं जानते थे ? या उस समय आज के वैदिक सनातनियों के गुरुदेव 'मनुकल्लूक भट्ट' जन्मे ही नहीं थे ? यदि ऐसा भी नहीं था, तो फिर उनके बाद सनातन का जन्म हुआ, ऐसा था ? मुझे तो ऐसा लगता है कि उसी समय विरोध करके सनातन वैदिक जन यदि 'मनुकल्लूक भट्ट' का ठोस प्रमाण रखकर झण्डा उठाकर विरोध करते हुए "वेदयज्ञ के साथ में प्रेतात्मा धुन्धुकारी को ठिकाने लगा देते, तो क्या मज़ा-आनन्द आता था, नहीं ? अन्य जनों से कई गुना ज्यादा मज़ा तो आज बीसवीं शताब्दी के सनातन धर्मरक्षक वेदज्ञजनों को आता । उनके लिए तो मैदान ही खुला हो जाता था । शायद तब तो प्रणामी सिद्धान्त प्रकट ही नहीं होता था, नहीं ?" परन्तु वैसा हुआ ही नहीं अफसोस ! आज वर्तमान के वैदिक सनातन पक्ष का विनाश तो उस समय के उपस्थित वैदिक सनातन वेदज्ञ-मर्मज्ञजनों ने ही कर दिया है । नहीं तो उस समय के सभी वैदिक सनातन विद्वान, मर्मज्ञजन भी श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के पक्षवाले ही थे, न ?

पुनः अन्य प्रकार से भी देख लीजिये तो । जब सात दिन के अन्दर मृत्यु के मुख में प्रवेश होनेवाले आत्मा-राजा परीक्षित की मुक्ति (आत्मोद्धार) के लिए धर्म की जरूरत पड़ी, तब राजा परीक्षित ने गंगाजी के तट पर ध्यानावस्थित वेदज्ञ, मर्मज्ञ विद्वान तथा ऋषि-महर्षियों सहित उपस्थित सम्पूर्णजनों से निम्न प्रकारेण प्रश्न करके पूछा, यथा -

ततश्च वः पृच्छमिमं विपृच्छे
विश्रभ्य विप्रा इति कृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं
शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥

- (भागवत, स्कन्ध १/१९/२४)।

अर्थ: विप्रवर! आप लोगों के प्रति पूर्ण विश्वास करके मैं अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में इस प्रश्न को योग्य समझकर ही पूछ रहा हूँ कि “आप सभी विद्वान आपस में विचार-विवेकपूर्ण निश्चय कर बताइये कि सबके निमित्त, सभी अवस्था में और विशेष करके अन्तिम समय में तथा अत्यंत क्षणिक अवधि में मृत्यु के मुख में जानेवाले के लिए अन्तःकरण और शरीर से करने योग्य विशुद्ध कर्म कौन-सा है ?”

अतः उक्त प्रकार के प्रश्न के जवाब में विवेकशील जनों द्वारा यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि गंगाजी के तट पर आमरण अनशन में निश्चित होकर कुशासन में उत्तराभिमुख होकर आत्मोद्धार निमित्त बैठे हुए राजा परीक्षित ने जब वेदज्ञ ऋषि-महर्षियों के आगे उक्त प्रश्न रखा, तब ‘श्रुतिरेव गरीयसी’ कहते हुए झण्डा क्यों नहीं उठाया ? क्या उस समय में आज के वैदिक सनातन धर्मरक्षक जैसे वेद के मर्मज्ञ विद्वान थे ही नहीं ? उसी समय विरोध होना चाहिए था और राजा परीक्षित को बाँह भर की मूर्ति में ध्यान कराना चाहिए था, नहीं ? या तो वेदयज्ञ द्वारा कम से कम ‘श्रुतिरेव गरीयसी’ मन्त्र तो जपवाना ही चाहिये था, नहीं ?

परन्तु कर्म-धर्म बिना के वर्णाश्रम चिन्ह रहित, कन्धनी (लँगोट बाँधने का नाड़ा) तक भी न पहने हुए नंगे अवधूत, वह भी व्रतबन्ध और वेदाध्ययन रहित श्री शुकदेव मुनि ने ११ वर्ष ५२ दिनवाले श्री कृष्ण लीला सम्बन्धी भागवत क्यों सुनाया ? क्या उक्त श्रोता और वक्ता सहित इष्ट सम्पूर्ण ही असनातन, अवैदिक, अहिन्दू के स्वादिष्ट मर-मसाला अर्थात् अराष्ट्रीयता, असहिष्णुता, एकता-समन्वय के बाधक, देश-काल परिस्थिति से अज्ञात, मनुकल्लूक भट्ट के तात्पर्य को नहीं समझ पाये थे या फिर वे आज बीसवीं शताब्दी के सनातन धर्मरक्षक वेदज्ञ-मर्मज्ञजनों के विरोधी थे ? वे अवश्य ही श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के ही पक्षवाले थे, नहीं ? अब क्या करेंगे, पुनः क्या कहेंगे ? परन्तु श्रीमन्निजानन्द सिद्धान्त यह नहीं चाहेगा कि- 'पक्षनाशे समुत्पन्ने धर्म त्यजति पण्डितः' की तरह ही आप भी बनें। सविनय अनुरोध करते हैं। अतः-

निष्पक्ष ज्ञान सनातन के सहारे विशुद्ध सर्वदेशी ज्ञान और ज्ञानवान् स्वरूप, वह भी 'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं' स्वरूपवाले को अविकल्प रूपेण ठहराकर उन्हीं परमात्मा की अनन्य भक्ति द्वारा आत्मोद्धार करने हेतु पूर्णरूपेण निर्भर हो जाइये। स्वात्मा की दृढ़तापूर्ण श्रद्धा-भक्तिवत् ज्ञान अन्यात्माओं में भी एकनिष्ठ होकर प्रचार-प्रसार करने में आगे कदम बढ़ाइये। स्व-सनातन का ही हठरूपी धर्म पालन करना हो, तो 'अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा' अन्य धर्म सिद्धान्त के प्रति गुण और दोषों के चिन्तन करने का धर्म तुरन्त परित्याग कर दीजिये। कारण युगानुकूल धर्म

स्वतन्त्रतापूर्वक सभी पालन करते हैं। आज के युग में हर कोई प्रत्यक्ष आँख देखा धर्म करना चाहते हैं। यह युग अन्य की आँख पर निर्भर रहकर कानाधार विवेक शून्यवत् होकर जीने और मरने का नहीं है। अन्य के सिर पर के जूँ प्रमाणित करते हुये हर कोई दौड़ पड़ते हैं, परन्तु स्वयं अपने सिर की भैंस बाँधने या जमा करने के लिए भैंसगोष्ठ पहले से ही तैयार-सुरक्षित करना पड़ेगा।

- इत्युक्तं -

ग्रन्थान्तर्गत स्थित “ज्ञानपूजा” न कि ग्रन्थ-भाषा पूजा-

❀ ज्ञानपूजा ❀

विवेकशील वाचकवृन्द!

निम्नोक्त विषय वेदज्ञजी द्वारा ही स्वीकृत कर उल्लिखित की गई ‘विवरण पत्र’ पुस्तिका के पेज नं. ५२ में देखने का कष्ट करें। उक्त स्थान में वेदज्ञजी की लेखनी से लिखा गया है कि ‘मन, वचन और कर्म से ईश्वर की भजन-भक्ति की जाती है। मन में ध्यान, चिन्तन, स्मरण और वचन द्वारा जप-पाठ-पूजा, प्रार्थना-स्तुति होती है। कर्म से मन्दिर-तीर्थ आदि में जाना, हाथ जोड़कर अभिवादन, साष्टांग नमस्कार, फूल-धूप आदि अनेक उपचारों से पूजा सहित तसवीर, पुस्तक, अग्नि, सूर्य, पानी, मिट्टी, पत्थर और काष्ठादि की मूर्तियों में नमन आदि भी किया जाता है।’

उपरोक्त विषय के निर्णय विषय में जो बातें वेदज्ञजी द्वारा ‘विवरण पत्र’ में स्व-लेखनी द्वारा उल्लिखित की गई हैं, वे ‘परोपदेशे पाण्डित्यम्’ मात्र ही हैं या स्व-अनुकरणीय भी हैं? यदि स्व-

अनुकरणीय भी थीं, तो उन्हीं विषयों के विरोध में 'विवरण पत्र' नामक पुस्तिका क्यों लिखी गयी ? वेदज्ञ महाशयजी ! आपने उक्त विषयों में से 'इष्टदेव' में श्री कृष्णजी और मूर्तियों में उन्हीं इष्टदेव के नाम, गुण-गान, लीलामय ज्ञान ग्रन्थ (पुस्तकीय) माननेवालों के प्रति वितण्डावाद का आयोजन क्यों कर लिया ? अतः आग, पानी, मिट्टी, पत्थर और काष्ठादि की मूर्ति तो वेदज्ञजी की समझ के अनुकूल हुई और ज्ञानमय ग्रन्थ (पुस्तकीय) मूर्ति प्रतिकूल-दुश्मन हुई, जिस ग्रन्थान्तर्गत स्वमान्य 'इष्टदेव' का नाम, गुण-गान लीलामय विशुद्ध ज्ञान है। शायद स्वयं वेदज्ञजी अपनी उग्र विद्वत्ता के परिचय के साथ-साथ अपनी हुकूमत-शासन कायम करने हेतु लालायित हो उठे हैं ?

दिव्य दृष्टिवत् सूक्ष्म विवेकशील होकर पुस्तकीय ज्ञानमय मूर्तिपूजन विषयवाले (वैदिक-अवैदिक, हिन्दू-अहिन्दू) तुलनात्मक निर्णय जरूर कर लीजिये ! श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्तानुयायी जन अन्य मूर्तियों में से पुस्तकीय ज्ञानमय मूर्ति-पूजन निम्नोक्त कारणों से करते हैं। यथा:-

१) स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात् ।
 तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ॥
 तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः ।
 सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात्पापनाशिनी ॥

- (श्रीमद्भागवत माहात्म्य, ३/६१-६२) ।

२) अवतीर्णो जगन्नाथ शास्त्ररूपेण वै प्रभुः ।

- (पद्मपुराणे) ।

३) श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि ।

- (भागवत माहात्म्ये) ।

१) अर्थः लीला विहारी भगवान् श्री कृष्णजी ने पृथ्वी का भार हरण करने के पश्चात् अपने ब्रह्मतत्त्व-तेज को श्रीमद्भागवत में स्थापित कर दिया । फिर स्वयं भी उसी में प्रविष्ट हो गये । इस कार्य-कारणवश भागवत ग्रन्थ 'प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि' अर्थात् प्रत्यक्ष भगवान् श्री कृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति रूप में अविकल्प रूपेण मान्य है, जिसके श्रवण, मनन, सेवन-पूजन द्वारा दोषदृष्टि का निवारण होकर परम अलौकिक सुखप्रद पद प्राप्त होता है ।

२) अर्थः विश्व-जगत् के नियन्ता प्रभु शास्त्र रूप में प्रकट होते हैं । इस कारण शास्त्र ज्ञान उन्हीं प्रभु का मूर्त (वाङ्मयी) स्वरूप है ।

३) अर्थः यह महापुराण श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में साक्षात् भगवान् श्री कृष्ण ही प्रत्यक्ष हैं ।

उक्त मान्यता 'तोते के राम-राम' की तरह न होने के कारण ही तो इसे श्रीमन्निजानन्द सिद्धान्त 'सास्त्र श्रवण श्री भागवत, बुद्धि जागृत को ज्ञान' की मान्यतावत् मानते आया है ।

यदुपरान्त वेदज्ञ महाशयजी ! आपश्री की ही लेखनी दौड़ रही है कि 'पुस्तक की पूजा होती है' । इस प्रकार ! क्या यह बात यथा तथ्य ही है या संशोधन-विशोधन करने में कुछ शेष रह गया है ? यदि संशोधन करने की जरूरत नहीं है, तो यह बता दीजिये

कि पुस्तक की पूजा करने से किसका पूजन होता है ? कागज के बण्डल का या भाषा का ? अतः तसवीर, अग्नि, सूर्य, पानी, मिट्टी, पत्थर और काष्ठादि की मूर्ति की पूजा करने से किसका पूजन होता है ? पुनः पुस्तकीय ज्ञानमय ग्रन्थ और उक्त तसवीर तथा काष्ठादि मूर्ति में से आप किसमें श्रद्धा-विश्वास की भावना रखते हैं अथवा योग्य-अयोग्य शास्त्रीय विधि-निषेध के अनुकूल-प्रतिकूल भी किसे मानते हैं ?

अब वेदज्ञजी स्पष्ट जबान खोलने की स्थिति सामने आ खड़ी हुई, तो आप मौन क्यों हैं ? बोलिये न ! पुनः 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' अर्थात् ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। उक्त मूर्तियों में से कौन-सी मूर्ति ज्ञानवान्, श्रद्धा योग्य और भावनामय है ? पुस्तक तथा ग्रन्थान्तर्गत ज्ञानमय, वाङ्मयी मूर्ति के ही आप दुश्मन हैं, तो इसका प्रत्युत्तर दीजिये कि जब धुन्धुकारी और राजा परीक्षित-इन उभयजनों को मोक्ष प्राप्त कराने के साधन की जरूरत पड़ी, तब ज्ञानमय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत सुनाने का क्या प्रयोजन था ? उसके बदले में 'शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती । मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥' यही राग अलापते हुये, उस समय उक्त मोक्ष इच्छुक आत्माओं के चारों ओर तसवीर, मूर्ति आदि रखकर पत्थर से मारते हुये, मिट्टी से लीपते हुए, पानी से धोते हुए, सूर्य में सुखाते हुए, आग में तपाते हुए, काष्ठादि से निर्मित मूर्ति को बाँह में भरकर आलिङ्गन करवा देना चाहिए था न, क्यों नहीं करवाया ? ऐसा किया होता तो 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' कहनेवाले श्रुति प्रमाण सार्थक सिद्ध होते, है न ?

परन्तु 'श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि' के आधार पर वाङ्मयी मूर्ति के शरणापन्न कराया गया। आज दुःखप्रद बात जो सामने आई है, वह यह है कि शायद उस समय से ही बीसवीं शताब्दी के वैदिक सनातन पक्ष के विरोधी कर्म की शुरुआत हुई थी, नहीं ? या वे श्रीमन्निजानन्द एवम् श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त के पक्षवाले ही थे। इसलिए उनका पक्ष लिया था ? अहो ! कलियुग गुणग्रस्त प्रभाव से त्रस्त स्थिति में 'प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि' प्रत्यक्ष सब में कहाँ-कैसे सम्भव हो सकता है ? ऐसे अवैदिक और अहिन्दू कौन हो सकते हैं, है न ?

विचार-विवेक भी सप्रमाण युगानुकूल !

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त 'अक्षरातीत ब्रह्मधाम' में विराजमान परब्रह्म परमात्मा के पूर्ण स्वरूप 'नन्दगोपब्रजौकसाम्' श्रीमद्भागवतानुकूल श्री कृष्ण के स्वरूप को मानता है। दिव्य दृष्टिवत् विवेक में शंका नहीं है क्योंकि उक्त मान्यता 'श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी' इस प्रमाणानुसार ही श्रुतियों में भी मूल ऋग्वेद (मं. ४/सू. ७/अ. १/मं ९) में बताये गए 'कृष्णं त एम रुशतः पुरो भा' आदि के भाष्यकार (निलकण्ठ तथा सायणाचार्यादि) के मतानुकूल एवम् वेदव्यासजी और शुकदेवजी के भी आज्ञानुकूल है। यथा -

**ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥**

- (भागवत, १-४/२०) ।

पुनश्च-

**इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥**

- (भागवत, ३-१२/३९) ।

अतः सर्वदर्शी भगवान् ने इतिहास पुराणरूपी पाँचवें वेद की रचना करायी । उक्त श्रीमद्भागवत के प्रमाणादि में (पूर्ण श्रद्धा-विश्वास है, तोते के राम-राम की तरह नहीं है । पुनः छल-छद्मवत् शकुनि चाल नहीं चलते) निःशङ्क संपूर्ण आप्तोपदेशानुकूल मात्र एक ही 'ब्रह्म इष्टदेव' की मान्यता है । उक्त प्रमाणानुकूल पाँचों वेदों में से भी सर्वमान्य प्रत्यक्ष प्रेतात्मा धुन्धुकारी और राजा परीक्षित-इन उभय जीवों को मोक्ष प्रदान करनेवाले ग्रन्थ-श्रीमद्भागवत महापुराण के अन्तर्गत निर्णय किये गये सम्पूर्ण आप्तोपदेशानुकूल 'अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपवज्रौकसाम्' अर्थात् श्री कृष्ण को ही 'सर्व- वेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' प्रामाणिक इष्टदेव के रूप में मानते हैं । वह भी पाँचों वेदान्तर्गत स्थित अनेकानेक प्रामाणिक अनन्य भक्तियोग द्वारा योगारूढ़ होने की साधना करते हैं ।

अतः इसी कारण से तो उक्त 'इष्टदेव-श्री कृष्ण' के ही नामाङ्कित मन्त्राधार, उन्हीं इष्टदेव के ही गुणगान, उनकी इहलोक और परलोक की लीला वर्णन के माहात्म्यरूपी विशुद्ध ज्ञान-ग्रन्थ रूपवत् वाङ्मयी मूर्ति को, उन्हीं इष्टदेव के चिह्न-वंशी, मुकुटादि शृंगार सहित स्थापना कर अनन्य रूप से उन्हीं श्री कृष्ण की, उनके जाप-नाम, गुणगान, लीला आदि के श्रवण-मनन, पठन-पाठन, पूजनादि अनन्य भक्तियोग मार्ग द्वारा साधना करते हैं ।

यसर्थ श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्तानुयायी वर्तमान कलियुग में भी सम्पूर्ण वेद, शास्त्रादि के आज्ञानुकूल इष्टदेव श्री कृष्ण और अनन्य भक्तियोग साधना द्वारा ही मुक्ति मानते हैं। इस विषय में वे किसी प्रकार की ज़िद और शंका-उपशंका का अस्तित्व नहीं रहने देते हैं। तथा -

(१) 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।'

- (गीता) ।

(२) 'कलौ केशवकीर्तनात्'

(३) 'भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम'

(४) कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥

- (श्रीमद्भागवत) ।

(५) 'एक एव परो मंत्रः कृष्णेत्यक्षरद्वयम् ।'

- (ब्रह्म वैवर्त पुराण) ।

(६) 'कृष्णमंत्राः फलाधिकाः ।'

- (गौतमीये) ।

(७) 'कृष्णमन्त्रविहीनस्य पापिष्ठस्य दुरात्मनः ।'

- (गौरी तन्त्र) ।

(८) 'मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।'

- (गीता) ।

(९) 'चाण्डालादधर्मी पापी श्रीकृष्णविमुखो नरः ।'

- (महाभारत) ।

(१०) मेहेराज कहे मुख ए धन,

जो वली रुदे रमंत ।

चौदे भवन ते जीतियो,

धन धन ए कुलवंत ॥

पर न आवे तोले एकने,

मुख श्रीक्रस्न कहंत ।

- (श्री मुखवाणी) ।

उपरोक्त शास्त्र प्रमाणयुक्त साधनाशील धर्ममार्ग को अदार्शनिक, अहिन्दू, अवैदिक कहते हुये नारा लगाने को ही विजय प्राप्त किया समझने और स्वार्थ को पलटने की चाहना रखनेवाले दार्शनिकजनों को स्व-सिद्धान्त अन्तर्गत स्थित अविकल्प अकाट्य-अटल वैचारिक (दार्शनिक) पक्ष के स्वल्प ज्ञान का दिग्दर्शन कराया गया है। पुनः जरूरत पड़ने पर समीक्षावत् दर्जनों भर प्रमाण भी पेश करने हों, तो सूचना अनुसार श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त हमेशा धर्म सहिष्णुता के साथ तैयार है।

-: विवरण पत्र की समीक्षा का वैचारिक पक्ष समाप्त :-

❀ व्यवहारिक पक्ष ❀

(सद्गुरु और गुरुगादी की मान्यता के प्रति :-)

‘विवरण पत्र’ अन्तर्गत वेदज्ञजी ने भी स्वयं ही हृदयङ्गम करके पेज नं. १२५ की अंतिम पंक्ति से समझाते हुए कहा है- “समाज का हित करते हुए आगे बढ़नेवाले धार्मिक समाज के नेता पुरोहित हैं ।” प्रत्येक सम्प्रदाय गुरु पुरोहित को मान्यता देते हैं। सच्चे हिन्दू पुरोहित, गुरु और आचार्यों की निंदा नहीं करते हैं, अपितु श्रद्धा-सम्मान करते हैं। उक्त धर्म के विपरीत, निंदा करनेवाले, कलम चलानेवाले, ईर्ष्या और बकवास करनेवाले जन कौन हैं? वे हिन्दू में हैं या अहिन्दू में? उन्हें सुज्ञ वैदिक सनातन हिन्दू कहें या अल्पज्ञ, अवैदिक, अहिन्दू, क्या कहें? ‘विवरण पत्र’ का अवलोकन करने पर स्पष्ट होगा।

अतः श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त अन्तर्गत श्री सद्गुरु और गुरुगादी के प्रति की श्रद्धा-मान्यता सप्रमाण स्पष्ट करने की जरूरत हुई। वैदिक और हिन्दुत्व की महत्ता विचार-विवेकवत् निहारकर देख लीजियेगा। अतः यदुक्तं -

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे ॥**

अर्थः ब्रह्मविदः-ब्रह्मज्ञानी; यत्र-जहाँ; दीक्षया-दीक्षा मन्त्र से सम्पन्न; तपसा-व्रतादि नियम तथा इन्द्रियादि संयम; यान्ति-किये हुये; ब्रह्मा-ब्रह्मास्थानीय आचार्य गुरु; मे-मुझे; तत्र-वहाँ; ब्रह्म-परमात्मा परब्रह्म के विशुद्ध ज्ञान; दधातु-धारण करा दीजिये

अर्थात् प्राप्त करा दीजिये।

उपरोक्त वेद मन्त्र स्पष्ट आज्ञा कर रहा है कि सर्वप्रथम आत्मोद्धार के जिज्ञासु को दीक्षित होना अनिवार्य है। तत्पश्चात् मननशीलजनों के निमित्त दूसरी उदाहरणीय बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि 'ब्रह्मा मा तत्र नयतु' एवम् 'ब्रह्म दधातु मे' द्वारा स्पष्ट है कि-हे ब्रह्मास्थानीय आचार्य गुरु! मुझे भी वहाँ पहुँचा दीजिये, जहाँ ब्रह्मज्ञ दीक्षा आदि से पहुँच सकते हैं। पुनः न कि वहाँ मात्र पहुँचाकर ही छोड़ियेगा, बल्कि 'ब्रह्म दधातु मे'- ब्रह्मदर्शन अर्थात् उनके चरण प्राप्त कराकर ही छोड़ियेगा। अतः क्या आप वेदज्ञजी! उक्त वेदमन्त्र का महत्त्व-उसकी तुलनात्मक 'इयत्ता' समझाकर आचार्य सद्गुरु का उत्तरदायित्व उठा सकते हैं, जिसमें कि दीक्षित करने के पश्चात् वेद मन्त्र ने शिष्यात्माओं का भार-जिम्मेदारी आदि सम्पूर्ण का उत्तरदायित्व आचार्य पदवीयुक्त सद्गुरु के ऊपर ही छोड़ दिया है। यसर्थ 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इति श्रुति के उच्चातिउच्च पदवी के प्रति लोभायमान लालायित होने मात्र से नहीं होता है। शास्त्रोक्त निम्न प्रकार में भी निपुणता होनी जरूरी है। यथा -

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।

सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

- (अथर्ववेद, कां. ११/४/३२) ।

विद्वान् पुरुष को यह रहस्य अवगत होना चाहिये कि उनमें आत्मा-परमात्मा का साक्षात् परिचय कराने की शक्ति सम्पन्न सद्गुरु को साक्षात् ब्रह्म सदृश श्रद्धापूर्ण देखने और समझने की

ताकत होनी चाहिये। कारण ऐसे पुरुष संसार में बार-बार प्रकट नहीं होते, न तो ऐसे सद्गुरु के दर्शन का सौभाग्य ही बार-बार प्राप्त हो सकता है। ऐसे महात्मा सद्गुरु में, जिस प्रकार गोठ (गोशाला) में गायों के झुण्ड के झुण्ड रहते हैं, उसी तरह सम्पूर्ण देवत्व-शक्तियाँ निवास करती हैं।

परन्तु आज बीसवीं शताब्दी के धर्म रक्षकों में गुरु के महत्त्व और गुरु के प्रति के उत्तरदायित्व को समझने की शक्ति है ही कहाँ ? 'मैं गुरु नहीं बन पाया, मुझे गुरु नहीं मानते।' ऐसी चिन्तारूपी छटपटाहट के कारण उनमें अनन्य विषय-वस्तु के प्रति सोचने और समझने की शक्ति ही कहाँ रह गयी है ? विचार-विवेकवत् शायद वे देख लेते कि -

**हरहिं शिष्य धन, शोक न हरहिं ।
सो गुरु घोर, नरक में परहिं ॥**

- (सन्त तुलसीदासजी) ।

अन्य धर्म सिद्धान्त के प्रति नारा लगाते हुये 'गुरु घेरे के कैदी नहीं बनना' ऐसा कहनेवाली लेखनी का वास्तविक तात्पर्य क्या है ? गुरु के गुरुत्व की गहनता बिना समझे ईर्ष्यालु मात्र बनने से क्या उनका प्रलोभन पूर्ण होगा ? गुरु के गुरुत्व के सामने आने से पूर्व ही सोचना टटोलना जरूरी है कि मुझमें गुरुत्व की गहनता कितनी है ? मैं जिस धर्म सिद्धान्त के प्रति ईर्ष्यावत् कलम चला रहा हूँ, उस धर्म सिद्धान्त में गुरु प्रदत्त ज्ञान कैसा और कितना है ? इस विषय की जानकारी का अन्त प्राप्त होना ही चाहिये, पुनः समझ भी ! कारण धर्म शास्त्रों में ऐसा आह्वान है कि-

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

मायानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

- (श्रीमद्भागवत, ११/२०/१७) ।

अर्थ: हे उद्धव! यह मनुष्य शरीर समस्त शुभ फल प्राप्ति का मूल साधन है। पुनः अत्यन्त ही दुर्लभ होने पर भी अनायास ही सुलभ हुआ है। इस संसार सागर से पार होने के विषय में यह मात्र एक सुदृढ़ नावरूप है। अतः शरण ग्रहण करने मात्र से ही परमार्थी सद्गुरु इस नाव के केवट बनते हैं और इस नाव को विभिन्न अमार्ग-कुमार्गरूपी दुस्तर भयंकर तथा अज्ञानपूर्ण उमड़ती हुई बरसती नदी के बहाव सदृश भँवर से स्मरण मात्र से ही बचाकर अनुकूल ज्ञान मार्ग के आधार पर लक्ष्य की ओर बढ़ाते-बढ़ाते पार लगा देते हैं। ऐसी सुविधा होते हुये भी, जो इस शरीर द्वारा संसार से पार नहीं होते, वे स्व-हाथों से स्व-आत्मा का हनन करनेवाले तथा स्व-आत्मा का अधोपतन करनेवाले हैं।

पुनश्च-

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं

धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।

ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः

स्वाराज्यतुष्ट उपशांत इदं विजह्यात् ॥

- (श्रीमद्भागवत, ७/१५/४५) ।

अर्थ: यह मानव शरीररूपी रथ जब तक अपने वश में होता है और इसकी इन्द्रियाँ तथा मनादि सभी साधन योग्य दशा में विद्यमान होते हैं, तभी तक जीव को (उस कालावधि के अन्दर ही) श्री गुरुदेव के उभय चरणकमलों की सेवादि के माध्यम से प्राप्त की हुई ज्ञानरूपी तीक्ष्ण तलवार के माध्यम से श्री परब्रह्म परमात्मा का आश्रय लेकर अज्ञानरूपी शत्रुओं का नाश करके अपने स्वराज्य सिंहासन पर आसीन होना चाहिये। पुनः अत्यन्त दृढ़तापूर्ण शांत भाव में दृढ़ होकर अन्त में शरीर परित्याग करना चाहिये ॥४५॥

उपरोक्त महत्त्व किसका है ? भाषा-बोध करानेवाले गुरु का या आत्मा-परमात्मा के सन्निकट योगारूढ़ करानेवाले “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” कहनेवाली श्रुतिदेवी द्वारा बताये हुए लक्ष्ययुक्त सर्वदेशी विशुद्ध ज्ञानवान् सद्गुरु का ? अतः श्रीमद्भागवत की मान्यता के प्रति सच्ची वैदिकता और हिन्दुत्व में पूर्ण श्रद्धा-विश्वास हो, तो निम्नोक्त प्रमाण में विवेचन होना ही चाहिये। यथा-

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या

दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।

तन्माययातो बुध आभजेत्तं

भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥

- (श्रीमद्भागवत, ११/२/३७) ।

अर्थ: राजन् ! परमात्मा श्री कृष्ण से विमुख पुरुष को उनकी माया ही मोहित कर स्व-स्वरूप का विस्मरण करा देती है और विस्मृति के परवश होकर ‘मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, तथा मैं अग्रगण्य

हूँ'-इस प्रकार के भ्रम में विपर्यय 'मम माया दुरत्यया' ही ऐसा कराती है। शरीरादि अन्य वस्तुओं में रात-दिन तन्मयता होने के कारण ही विभिन्न भय आदि ग्रस्त करते हैं। यसर्थ - 'अज्ञानहेतु-कृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः' (भागवत माहात्म्य, २/७६) अर्थात् अज्ञान के कारणरूप भ्रमात्मक मोहनाशक विशुद्ध ज्ञानवान् स्व-सद्गुरु को आराध्यदेव परम श्रद्धेय समझकर गुरुपदेश के आधार पर भगवान् श्री कृष्ण परमात्मा के अनन्य भक्तियोग रूपी भजन में स्व-आत्मा को तन्मय करने में ही आत्मा का परम कल्याण है।

अतः उपरोक्त वेद-शास्त्रादि द्वारा बताये हुए लक्षणयुक्त विशुद्ध ज्ञानवान् सद्गुरु की श्रद्धायुक्त मान्यता और उक्त गुरु की 'आद्य आचार्य सद्गुरु गादी' की श्रद्धा और सम्मान श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त करते आया है और करते ही जायेगा ! परन्तु प्रणामी निजानन्द सिद्धान्तवाले, अन्य सिद्धान्त तथा धर्म प्रवर्तक गुरु एवम् गुरुगादी के प्रति ईर्ष्यालु होकर, अज्ञात विषयों के प्रति शिशुपालवत् बकवास और विभिन्न परिकल्पना करते हुए कभी किसी काल में चलते नहीं हैं और न वेदज्ञजी की तरह कलम चलाने की विद्वत्ता ही दिखाते हैं। इति शुभमस्तु -



❀ अनन्योपासक ❀

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त 'सर्ववेदान्तसारोऽहं' सम्पूर्ण वेद-वेदान्त के साररूप सम्पूर्ण आप्तोपदेशों द्वारा निश्चित किये हुए अक्षरातीत परब्रह्म परमात्मा स्वरूप श्री कृष्ण को मानता है। पुनः मान्यता का प्रकार कैसा है ? अतः इस सिद्धान्त में स्व-इष्टदेव की उपासना-विधियों में से अनन्योपासना विधानाधार भक्ति योगारूढ़ होने का विधान है क्योंकि विभिन्न शास्त्रोक्त प्रमाण द्वारा 'अनन्योपासक' सिद्धान्त के अल्पज्ञ अनुयायी अर्थात् भक्तजन स्व-सिद्धान्त च्युत न हों इस ध्येय से उक्त विषय में उन्हें शास्त्र पुराणोक्त प्रामाणिक तथ्य-विधान दिखाते-समझाते हुए सिद्धान्त मार्ग पर दृढ़ता के साथ प्रवृत्त कराते हैं। सम्पूर्ण आप्तोपदेशों को सहर्ष अपनाते हुए निश्चित परमात्म तत्त्व 'इष्टदेव' के प्रति भक्ति योगारूढ़ कराने हेतु शास्त्रोपदेशानुकूल प्रमाणयुक्त बातें वह भी युगानुकूल सर्वदेशी रूप से प्रचार-प्रसार क्षेत्र में आने पर निराला-अनूठा मानने-जाननेवालों ने इस धर्म सिद्धान्त को बहिष्कृत कहा है या उक्त प्रमाणवाले शास्त्रकारों तथा ऋषि-महर्षियों को ? हैं! यह बात यथा तथ्य स्वीकृत होगी कि बेप्रामाणिक बातें दृष्टि में आते ही 'उक्त बातें किस शास्त्र में हैं' इस प्रकार पूछनेवाले जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का निवारण यदि न हुआ, तो तत्काल ही बेप्रामाणिक बातों के संशोधन के साथ-साथ बहिष्कार भी जरूर होगा, किन्तु प्रामाणिक विषय का कदापि नहीं !!

मुख्यतः इस सिद्धान्तान्तर्गत मान्यताओं से अवगत जिज्ञासुजनों के निमित्त ही इस कलियुग में यह धर्म सिद्धान्त प्रकट

हुआ है। कारण यह सिद्धान्त सर्वदेशी-सर्वात्माओं के निमित्त अनुकरणीय होने के साथ-साथ देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल भी है। इस बात का यथा तथ्य प्रमाण निम्नप्रकार है। यथा-

कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति संभवम् ।

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥

- (श्रीमद्भागवत, ११/५/३८) ।

अर्थ: हे राजन् ! सत्य, त्रेता और द्वापरयुग की प्रजा (जनता) यह चाहती है कि हमारा जन्म कलियुग में हो जाय। कारण कलियुग में वे ब्रह्मनिष्ठ मुनिजन प्रकट होनेवाले हैं, जो 'नारायणपरायणाः' हैं।

अतः ब्रह्मतत्त्व गुह्यातिगुह्य रहने का वास्तविक तात्पर्य सदसत् में विवेक नहीं पहुँच पाना ही है। विवेकवत् विचार कर लीजिये कि सत्य, त्रेता और द्वापरयुग से भी कइयों गुना अनाचार, दुराचार, व्यभिचार और पापाचार युक्त है 'कलियुग'। इस युग में वैसे युग की आत्माएँ जन्म लेना क्यों चाहती हैं? पुनः आद्य सृष्टि से ही नारायण परायण जनता भी थी, शास्त्रोक्त प्रमाणानुकूल सत्ययुग में तो एक मात्र देव नारायण ही थे, तो फिर कलियुग में नारायण परायण होने का क्या प्रयोजन? पुनः वे कैसे हो सकेंगे, जो सत्यादि युग में नहीं हो सके? 'नारायणपरायणाः' का यथा तथ्य तुलनात्मक विवेचनात्मक वास्तविक अर्थ न दर्शा पानेवाले मार्गदर्शकों ने तीनों ही युगों की जनता का पाप अपने सिर पर थोपने के कारण ही अन्धे सदृश होकर 'अक्षरातीत तत्त्व और

नारायणपरायणाः' आत्माओं के प्रति 'जघन्यगुणवृत्तिस्था' सदृश कुल्हाड़ी चलायी है, नहीं? प्रतिफल सामने आने पर क्या दशा होगी ?

पुनश्च-

अभाविनो भविष्यन्ति मुनयो ब्रह्मरूपिणः ।

उत्पन्ना ये कलियुगे प्रधानपुरुषाश्रया ॥

- (हरिवंश पुराणे) ।

अर्थ: ब्रह्मरूपी मुनि सृष्टि में कभी नहीं हुये। वे प्रकट होनेवाले हैं, जो प्रधान पुरुष के आश्रय में रहनेवाले हैं।

उक्त रहस्यमय गुण की ओर संकेत करते हुये वेदव्यासजी शिवजी को समझाते हुये बारम्बार कलियुग को धन्य-धन्य कहते हैं।

यथा -

'कलिर्धन्यः कलिर्धन्यः कलिर्धन्यो महेश्वर !'

- (पुराण संहिता, ३२/१)।

उपरोक्त प्रकार से तीन-तीन बार वेदव्यासजी द्वारा कलियुग को धन्यवाद प्राप्त होने का रहस्यमय कारण क्या है? कोई इस रहस्य का विवेचन कर बोध प्रदाता भी है ?

यदुपरांत अनन्य भक्ति-योगारूढ़ विधान विभिन्न शास्त्र, पुराणादि में प्रत्यक्ष बताए हुए आप्तोपदेश अनुकूल सिद्धान्त के प्रति विभिन्न कपोल-कल्पित शंका-उपशंका युक्त वितण्डावाद की सृजना पेटार्थू, स्वार्थी, ईर्ष्यालु जनों के सिवाय अन्य कौन कर सकते हैं? वैज्ञानिक युग में यह प्रत्यक्ष होने में कितनी देर है कि 'कुलटानां

कुलाङ्गना' अर्थात् ये उभय ही अपने-अपने स्वाद में मस्त रहते हैं। किन्तु कौन-से और कैसे स्वाद में? इसकी वास्तविकता यथा तथ्य तब तक गुप्त रहती है, जब तक निर्णयात्मक विवेचन नहीं होता, है न?

अतः देख लीजिये महाशयजी! निम्नोक्त शास्त्र प्रमाण का महत्त्व कुलाङ्गना भक्तजन शिरोधार्य न करें, तो क्या कुलटा भक्तजन करेंगे? अतः बोलियेजी! बहिष्कृत और संशोधन करना ही बाकी तो नहीं? वे भी कितना और किस-किस का करोगे? यथा-

**मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥**

- (भागवत, ९/४/६६)।

अर्थ: हे साधकों! मेरे प्रति निर्बद्ध हृदयवाले संत-साधक मुझे उसी तरह वश करते हैं, जिस तरह सती स्त्री अपने सत्पति को वश में रखती है। परन्तु 'समदर्शिन' देखते ही 'सर्वव्यापक मुझे ही देखते हैं' कहते हुये मत दौड़ना। फिर सती स्त्री सर्वव्यापक पुरुष के प्रति सत्पति की तरह दिखाने लगोगे, तो स्व-घर ही शून्य हो जायेगा। पुनः निम्न प्रकार के प्रमाणादि बटोरकर कहाँ रखेंगेजी? यथा -

**अनन्यशरणो नित्यं तथैवानन्यमानसः ।
अनन्यसाधनार्थत्वात् स्यादनन्य प्रयोजनः ॥
नान्यं पूजयेद् देवं न नमेच्च स्मरेन्न च ।**

न च पश्येन्न गायेच्च नैव निन्देत् कदाचन ।।
नान्योच्छिष्टं च भुञ्जीत नान्यशेषं च धारयेत् ।
आश्रित्य चातकीवृत्तिं देहपातावधिर्द्विज ।।

- (पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अ. ८२/३३-३४) ।

अर्थ: अनन्योपासक भक्तजन (साधक) 'इष्टदेव' के सिवाय अन्य किसी में भी शरणागति की आशा-इच्छा नहीं रखते । अनन्य मनवाले होकर 'इष्टदेव' श्री कृष्ण का ही चिन्तन-मनन करते रहते हैं। मात्र एक ब्रह्म इष्ट 'श्री कृष्ण' के सिवाय अन्य किसी का भी भजन-पूजन, ध्यान-स्मरण नहीं करते। एकनिष्ठ होकर निरन्तर दृढ़ता के साथ 'स्व-इष्टदेव' के प्रति अनन्य श्रद्धा-भाव से तन्मय रहते हैं । न तो वे अन्य को अर्पण किया हुआ उच्छिष्ट ही लेते हैं, न अन्य का गुणगान और निन्दा ही करते हैं। अपितु वे तो चातक पक्षी की तरह ब्रह्मस्वरूप 'इष्टदेव' श्री कृष्ण में ही नित्य-निरन्तर अनन्य भक्तियुक्त योगारूढ़ रहते हैं। यदर्थ-

'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।'

- (गीता) ।

अर्थ: केवल 'मुझमें' ही एकनिष्ठ होकर ज्ञानयोग द्वारा मुझे जानकर, समझकर दृढ़तापूर्वक मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करने से ही मेरे भक्तजन मुझे प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा नहीं प्राप्त कर सकते!

पुनश्च-

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यसः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

- (गीता, ८/१४) ।

अर्थः हे पार्थ! जो भक्त 'मुझमें' ही अनन्य चित् द्वारा स्थित सदा-सर्वदा, नित्य-निरंतर मेरा ही स्मरण करते हैं, ऐसे सर्वभावेन प्रेमयुक्त अनन्य भक्ति योगारूढ़ योगिनः भक्त-साधक द्वारा ही मैं सरलता से प्राप्त हो पाता हूँ अर्थात् ऐसे भक्तजन मुझे सरलतापूर्वक प्राप्त करते हैं।

पुनश्च यदुक्तं-

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।

न स्वध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

- (श्रीमद्भागवत, ११/१४-२०) ।

अर्थः हे उद्धव! मेरे अकाट्य प्रतिज्ञावत् मत को सुन ले। योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ, तप-त्यागादि द्वारा मुझे प्राप्त करने में उतनी सामर्थ्यता नहीं है, जितनी प्रतिदिन प्रेम-वृद्धि करानेवाली भक्तियोगरूपी साधन में है।

अतः उक्त भक्तियोग साधन भी कैसा? गीता प्रमाण में वर्णित किये जैसा। यथा -

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

- (गीता, ९/२२) ।

अर्थ: अनन्य भक्ति योगारूढ़ होकर 'मुझमें' ही स्थित भक्तजन (साधक-उपासकजन) मेरा ही निरन्तर चिन्तन-मनन करते हुये, अन्य के प्रति की आशा-इच्छा से रहित निष्काम भाववाले, मेरे प्रति ही नित्य एकनिष्ठ भाव से अनन्य शरणापन्न हुये अपने भक्तजनों के निमित्त मैं स्वयं ही योगक्षेम को फलीभूत करा देता हूँ। इसमें कुछ भी शङ्का नहीं।

यसर्थ-हे प्रिय अर्जुन तथा अनन्योपासक सिद्धान्तान्तर्गत अनन्य भक्ति योगारूढ़ भक्तजनों!

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥

- (गीता, ९/३४) ।

अर्थ: हे अनन्य भक्ति-योगारूढ़ भक्तजनों! मन्मनाभव - अनन्य प्रेम द्वारा नित्य-निरन्तर अचल श्रद्धायुक्त मन से मेरा ही चिन्तन-मनन करो। मद्भक्त भव-श्रद्धा भक्तिपूर्ण एकाग्र भाव से मेरे ही नाम का गुणगान और प्रभावशाली लीला आदि के श्रवण, कीर्तन, मनन तथा पठन-पाठन के आधार पर निरन्तर मेरा ही भजन करो! मद्याजी भव-मन, वाणी एवम् शरीर द्वारा सम्पूर्ण अर्पण करते हुए अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति और प्रेम-विह्वलतापूर्वक मेरा ही पूजन करो। मां नमस्कुरु-सर्वगुण संपन्न, सर्वाधार, सर्वातीत, मुझमें ही विनय-भावपूर्वक अनन्य प्रेम-भक्ति सहित साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करो। मेरे प्रति इस प्रकार शरणापन्न साधक-भक्तजनों की आत्मा मेरे सिवाय अन्य में नहीं प्राप्त होती तथा ऐसी आत्माएँ मुझे सरलतापूर्वक प्राप्त करती हैं।

अतः उपरोक्त रहस्यपूर्ण भेद जाने-समझे बिना ही उक्त गुह्य रहस्य के प्रति जब तक पूर्ण श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न नहीं होता तब तक श्री कृष्ण परमात्मा को प्राप्त करना मात्र मुश्किल ही नहीं, असंभव है। कारण ममत्व और वेदत्व की तात्पर्यता का उल्लंघन किये बिना ब्रह्मत्व तक पहुँचने की शक्ति ही कहाँ-किसमें है ?

ममत्व भेद :

**पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः ॥**

- (श्रीमद्भागवत, ७/१५-२१) ।

अर्थ: हे राजन् एवं भक्तजनों! अनेक विषयों के ज्ञाता, शंकाओं का समाधान किये हुए, चित्त में शास्त्रोक्तं अर्थ ढूँंसने-समझाने में निपुण, ताकतवर और विद्वत्सभा के सभापति बड़े-बड़े विद्वान भी असन्तोष के कारण स्वधर्म मार्ग से विचलित होकर धर्म च्युत होते हैं।

अन्यथा पूर्ण तात्पर्यता के रहस्य प्रति विचार-विवेकपूर्ण निर्णयात्मक विवेचन किये बिना ही अन्य धर्म सिद्धान्त के प्रति अदार्शनिक, अवैदिक, अहिन्दू, कुग्रन्थ, बहिष्कृत एवम् संशोधन का नारा लगाते हुये वितण्डावाद की सृजना करनेवालों ने समाज-द्रोही होने से पहले कलम चलाते हुए क्या यह भी सोचा था कि स्वदेश अन्तर्गत ही विद्वत्ता की गतिविधि देखकर विदेश खिलखिलाते हुए हँसने लगे, तो कालिखरूपी दाग कहाँ लगेगा ? इस समझ से भी शून्य ? वाह रे वाह ! इससे बढ़कर आश्चर्यवत् युग ढूँँढ़ने कहाँ जायें ?

पुनः निम्नोक्त भी कारण हो सकता है !

❀ वेदत्व भेद-यदुक्तं ❀

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥

- (भागवत, ११/३/४४) ।

अर्थ: वेद परोक्षवादात्मक है। इस (वेद) में कर्म निवृत्ति के निमित्त कर्म का ऐसा विधान बताया गया है कि जिस तरह अल्पज्ञ बालकों को मिठाई आदि का प्रलोभन दिखाकर औषधि खिलाई जाती है, उसी तरह अल्पज्ञजनों को स्वर्गादि के सुखों का प्रलोभन दिखाकर उत्तम कर्म में प्रवृत्त किया गया है। पुनश्च-

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥

- (भागवत, ११/२१/३५) ।

अर्थ: हे उद्धव तथा सर्वात्माओं एवम् भक्तजनों! वेदों में तीन काण्ड हैं। जैसे-कर्म, उपासना और ज्ञान। किन्तु ब्रह्म और आत्मा विषय के सन्निकट रहनेवाले एकत्व ज्ञानयुक्त सभी मन्त्र और मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने इन विषयों को गुप्तरूप से ही बताया है और मुझे भी गुप्तरूप से ही बताना अभीष्ट, प्रिय और योग्य लगता है क्योंकि इस विषय में शुद्ध अन्तःकरणयुक्त पात्र के सिवाय अन्य किसी का अधिकार भी नहीं है। पुनः प्राप्त कर भी लिया, तब भी समझ में आयेगा ही नहीं।

उक्त विषयों का निर्णयात्मक निष्कर्ष स्पष्ट प्रकट भी कर

सकते हैं ? या तो परोक्ष-अपरोक्ष भेद छिपाने हेतु मनुकल्लूक भट्ट प्रमाण द्वारा श्रीमद्भागवत और भगवान श्री कृष्ण को ही 'त्यज्य और अमान्य है' की घोषणा के साथ में बहिष्कृत करोगे ?

वेदज्ञजी ! ध्यानपूर्वक देखियेजी ! भगवान श्री कृष्णजी स्वयं कहते हैं कि-

**शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥**

- (भागवत, ११/११/१८) ।

अर्थ: हे उद्धव एवम् मेरे अनन्योपासक भक्तजनों ! जो पुरुष वेदों का तो पारगामी विद्वान है, परन्तु परब्रह्म के ज्ञान प्रति शून्य हो, तो उस परिश्रम का फल निष्फल हो जाता है । उसे तो 'बाँझ गाय पालनेवाले का मुँह भर दूध की-सी आशा रखने' जैसा ही समझना !

सुज्ञेषु किं बहुना ?

अतः अनन्योपासक भक्ति-योगारूढ़ सिद्धान्त सुनते ही सुज्ञजन समझ लेते हैं । किन्तु उक्त सिद्धान्त के प्रति विभिन्न शून्य दिमाग की तरह एवम् अर्ध दिमागवत् प्रश्न, शंका-उपशंका करते हुये शून्य शहर की परिकल्पना कौन करते हैं ? जिसका अर्ध दिमाग 'अनन्योपासक' के वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ हो या तो जिसने अनन्य शब्द ही नहीं सुना हो, ऐसे दिमाग के धुरन्धर मर्मज्ञजन मात्र ही ऐसी परिकल्पना कर सकते हैं । अन्य जन नहीं !!

अन्यथा आँख देखी वैदिक धर्म मार्ग सिद्धान्त को अवैदिक-अहिन्दू कहने की आन्तरिक तात्पर्यता स्पष्ट करके श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त अन्तर्गत के वैदिक हिन्दुत्व सम्बन्धी

प्रश्नों का समाधान करके निष्कर्ष देने में ही कटिबद्ध होकर सूचित करना पड़ेगा। श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त 'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं' (भागवत, १०/२/२६) ऐसे त्रिकाल को समक्ष रखकर मूल वेद से स्व-सिद्धान्त प्रकट (वि. सं. १६७८) के समय तक के आप्तोपदेश अन्तर्गत से आत्मा-परमात्मा और आत्मा को परमात्मा के सन्निकट कराने के साधन विषय प्रश्न करेगा। मुख्यतः प्रमाण श्रीमद्भागवत की मान्यता के साथ निष्कर्ष-तत्त्व और साधन-इन उभय वस्तुओं का युगानुकूल होना ही आवश्यक मानता है। पुनः सप्रामाणिक विषयादि को वैदिक हिन्दुत्व के अन्दर मानते हैं और बेप्रामाणिक विषयादि को शिशुपाल धर्मवत् समझते हैं। कारण -

**वृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥**

- (महाभारत शांतिपर्व)।

अर्थ स्पष्ट ही है।

*** सुनते ही शंका उत्पन्न करानेवाले
आरोपित आक्षेपादि! ***

‘विवरण पत्र’ नामक पुस्तिका प्रत्यक्ष अवगत कराती है कि नेपाल अधिराज्य भर के वैदिक हिन्दू धर्म-रक्षक ‘नायब बड़े गुरुजी’ तक विपक्ष धर्म सिद्धान्त के व्यवहार के प्रति अश्रद्धा प्रकट कराते हुए प्रचार-प्रसार किये गये कपोल-कल्पित विषयों में से निमन्त्रणादि पत्र में स्पष्ट रूप से उल्लिखित विषय निम्न प्रकार के

हैं। जैसे-‘तुलसी का मठ तोड़ना, शिव मंदिर, कृष्ण मंदिर आदि तोड़-फोड़ करना, गाय के गोबर में अपवित्र बुद्धि रखना और ऐसा ही प्रचार-प्रसार भी करते चलते हैं।’

- (निमंत्रण-पत्र, बड़े गुरुजी) ।

अतः उक्त विषय श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के अंतर्गत हैं-ऐसी बातें अप्रामाणिक परिकल्पना के सिवाय अन्य कुछ नहीं हैं क्योंकि यह सिद्धान्त गाय को गौ माता-लक्ष्मीजी की जगह में मान्यता देता है। यसर्थ लक्ष्मी पूजन के दिन अमावस्या के समय में अक्षतादि से पूजन के साथ पुष्प-मालादि पहनाते हैं। पुनः भैंस को भूत की मान्यता दी गई है। पुनः हिन्दुत्व कर्म संस्काररूपी धर्म साधना को देह-शुद्धि के निमित्त ही अपनाते हैं। मुख्यतः कर्मादि मध्ये जूठन-सूतक और वर्णाश्रमानुसार व्रतबन्ध आदि काज-क्रिया आती है। किन्तु स्त्री जाति पर तो व्रतबन्धादि की कलियुगी प्रथा लागू की ही नहीं गयी है। स्त्री जाति भी भक्ति मार्ग में प्रविष्ट होती है। पुनः पुण्य-पर्वादि में मुख्यरूप से श्री कृष्ण जन्माष्टमी और राधाष्टमी मनाते हैं। यदुपरान्त श्री कृष्ण लीला सम्बन्धी अन्य पर्व और स्व-धर्म सिद्धान्त के आदरणीय गुरु आद्य सद्गुरु श्री देवचन्द्रजी और श्री प्राणनाथजी की जयन्ती मनाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुयायी श्रीखण्ड और तुलसी की माला गले में धारण करते हैं और श्रीखण्ड-चन्दन के ऊर्ध्व पुण्ड्र एवं बिन्दी तो लगाते ही हैं।

परन्तु ‘चीन की दीवार भारत में, भारत का ताजमहल नेपाल में तथा नेपाल का सिंह दरबार रूस में’ कहने जैसा धन्धा

प्रणामी बन्धुजन नहीं करते हैं क्योंकि जो कोई जहाँ है, वह वहीं उसी में सत्य है, नहीं तो सत्य से हाथ धोना पड़ेगा। यह सिद्धान्त गाय की मान्यता भैंस को नहीं देता और न तो भैंस को सुअर सिद्ध करने की ओर दौड़ता है। वास्तविक निष्पक्ष विवेकशील जन यदि ढूँढ़ने जायें, तो इस धर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत तीन सौ साल की अवधि में भारत में छः सौ श्री कृष्ण प्रणामी मंदिर और नेपाल में पचास श्री कृष्ण प्रणामी मंदिर के निर्माण का इतिहास मिलेगा, न कि तोड़-फोड़ का इतिहास। शिव मन्दिर या अन्य किसी भी धर्म सिद्धान्त द्वारा मान्य मंदिर या तुलसी के मठ को तोड़ते-फोड़ते हुये प्रचार-प्रसार करनेवाला सिद्धान्त बताने और लिखनेवाले के ही मुँह-जबान का निज सनातन वैदिक धर्म है।

इस धर्म सिद्धान्त के मूल केन्द्र गुजरात जामनगर अन्तर्गत श्री ५ नवतनपुरी धाम में जाकर गौ पालन और गौ मान्यता के महत्त्व को उक्त लेखनी और जबान चलानेवाले वैदिक सनातनी जन दर्शन कर प्रायश्चित्त न करें, तो उनकी मुक्ति में जरूर बाधा दिखाई देती है। पुनः श्रीमद्भागवत महापुराण के पन्द्रह दिन का पारायण प्रति वर्ष प्रणामी धर्म पत्रिका के अंक ९ द्वारा आम जनता में आमन्त्रणादि के साथ 'भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा' से विधि-विधानवत् पालन करने की सभी बातें ये वैदिक सनातन सुज्ञजनों ने पढ़ी-समझी और जानी हुई हैं। पुनः नेपाल अन्तर्गत तथा स्व-स्थान के नजदीक में ही सलकपुर-शनिश्चरे, सिलिगुड़ी, कालिम्पोंग आदि स्थानों के समाज द्वारा समय-समय पर श्रीमद्भागवत महापुराण के साप्ताहिक पारायण में उपस्थित होने हेतु भेजे गये निमन्त्रण-पत्र

आदि भी विरोधाभासी लेखनी चलानेवालों को प्राप्त नहीं हुए हैं, ऐसी बात नहीं!

नहीं तो, इस सिद्धान्त के कतिपय भक्तजन गौ पालन द्वारा भी जीवन का गुजारा करते हैं, ऐसी बातें सनातन वैदिक जनों ने नहीं देखी हैं, ऐसा नहीं है। कर्म-संस्कारादि कार्य में विशेष जन्म-सूतक और मृतक-सूतक में गौ के गोबर और गउत (गौ-मूत्र) का प्रयोग करते हैं। इसके बदले में ये किसका प्रयोग करते हैं, इसका प्रमाण देने में भी सक्षम होना पड़ेगा। हँ! साँझ-सबरे दाल-भात और साग में तो दही, दूध और घी का प्रयोग करते ही हैं, न कि गोबर और गौ-मूत्र का!!

विशेष:-सिद्धान्त अन्तर्गत के धार्मिक भक्तजन कर्म संस्कारादि स्व-सिद्धान्त में दीक्षित पुरोहित एवम् पण्डितों को ही बुलवाकर कराते हैं। कारण कर्म-संस्कारादि करानेवाले पण्डितों-पुरोहितों का अहिंसक होना अत्यन्त ही आवश्यक मानते हैं। साथ ही साथ मादक पदार्थ और धूम्रपानादि दूषित पदार्थों के सेवन-अमल से भी शुद्ध-पवित्र चाहते हैं। पुनः जूठन-सूतकादि क्रिया-काज द्वारा आत्मा का तरण-तारण नहीं मानते हैं। मात्र देह शुद्धि, घर पवित्र, व्यवहार निर्मलता का निमित्त ही मानते हैं। अतः गतात्मा के नाम पर जो श्राद्ध आदि करते हैं, उसमें स्व-सिद्धान्त अन्तर्गत पवित्र भक्तवान् पुरोहित और भक्तजनों के समूह को आमन्त्रित करके मुख्यतः श्रद्धा समर्पण करते हैं। एक पण्डित पुरोहित और समूह समाज के भक्तजनों के आशीर्वाद द्वारा ही गतात्मा का कल्याण उद्धार मानते हैं।

इस सिद्धान्त ने चार जात, छत्तीस वर्ण और तीनों ही लिङ्गवाली मनुष्यात्माओं को समान सम्मान के साथ स्व-आत्मकल्याणार्थ अनन्य भक्ति योगारूढ़ मार्ग के माध्यम से स्व-वर्णाश्रम में रहकर आत्मोद्धार करने का अधिकार प्रदान किया है। यसर्थ इस सिद्धान्त के अनुयायी बाल्यावस्था से ही अभक्षण-अखाद्य की ओर न जाते हुए निरामिष सात्विक खुराक द्वारा भक्ति मार्ग में प्रवेश करते हैं।

❀ वेदज्ञजी का निर्णय ❀

वेदज्ञजी की स्व-लेखनी निर्णयात्मक विवेचन करते हुए 'विवरण पत्र' के पेज नं. ५२ में दौड़ते हुए लिखती है कि लिङ्ग का अर्थ चिह्न है। क्या यह अश्लील अर्थ नहीं है? अन्यथा 'स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग, और नपुंसक लिङ्ग'-इन शब्दों का क्या अर्थ करना? यहाँ शब्द में तो इन्द्रिय नहीं होती। मनुष्य में स्त्री चिह्न दाढ़ी-मूँछ नहीं होना ही है.....

अतः यह सिद्धान्त भी लिङ्ग का अर्थ चिह्न ही करते आया है और कर भी रहा है। चिह्नहीन किया हो, तो प्रमाण पेश करना चाहिये। पुनः एक-एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, यह बात भी आप जानते हैं। परन्तु घास-फूस से आग को ढँककर छिपा नहीं सकते और न तो तथ्य की वास्तविकता में पहुँचने योग्य निर्णयात्मक विषय निश्चित करने को फूहड़-अश्लील समझकर दीर्घ-सूत्री बनकर रहा ही जाता है। तत्तत विषयों के तुरंत ही तत्काल निर्णय कर निश्चिन्त रहना चाहिए क्योंकि लिङ्ग का अर्थ 'दाढ़ी-मूँछ नहीं होना' से कथन को मानकर महाशय वेदज्ञजी की तरह दीर्घ-

सूत्रीपना धारण करके रहना योग्य नहीं है। वेदज्ञजी को ब्रह्मतत्त्व के निर्णयात्मक विषयों में से भी लिङ्ग शब्द का अर्थ करने में कई जन्म लग जाँगे, ऐसा प्रत्यक्ष ही अवगत हो रहा है।

अब विवेकवत् देख लीजियेजी! वेदज्ञजी का अपने विवेचनात्मक ज्ञान द्वारा लिङ्ग का अर्थ 'मूँछ-दाढ़ी' नहीं होना है- ऐसा कहना वास्तविक तात्पर्य फूहड़पना औरी अश्लीलता से निवृत्त होना अथवा बचना भी है। अरेजी! अब अपने ही घर में स्व-गृहिणी द्वारा बच्चा जनने पर जन्म-सूतक लग गया और घरही फूहड़-अपवित्र हो गया, ऐसा कहें किसको! अश्लील शब्द डीप प्रत्यय से बने हुये शब्द का निर्णय करना, वह भी व्याकरणीय ज्ञान से 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' प्रमाणयुक्त अत्यन्त ही फूहड़-अश्लील है। अब बालक जन्मा या बालिका! इसका निर्णय तो फूहड़-अपवित्र, शास्त्रीय विधान से वर्जित है। ठहरें..... ठहरें..... पर कब तक? जब तक मुँह-ठोड़ी की मूँछ-दाढ़ी मुट्टी में नहीं आ जाती। आने के पश्चात् लड़का-पुलिङ्ग और न आने पर बालिका-स्त्रीलिङ्ग !! कितना स्वादिष्ट और रोचक आश्चर्य तथा २०-२५ वर्ष की दीर्घ-सूत्रता के पश्चात् निर्णय है। पुनः नपुंसक लिङ्ग का निर्णय कब होगा? वह तो इसके पश्चात् दूसरे जन्म में ही होगा। नहीं तो ब्रह्म विषय का निर्णय कब करोगे? वह तो और भी बता दीजिये पण्डितजी? राम-कृष्ण श..... ब्द वेद में नहीं है, जो है उसका भी अ..... र्थ ही लगता नहीं तो, अब मैं क्या कहूँ?

अतः इसे 'आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः' का पाण्डित्य कहूँ या विवेक शून्य विद्वत्ता ही कहूँ। ऐसी बातें ही तो निम्न प्रकार के वितण्डावाद की सृजना करती हैं !

एक दृष्टांत

एक समय दो पण्डित अठारह वर्ष तक काशी में शास्त्र अध्ययन करने के पश्चात् घर लौटकर आ रहे थे। जब वे दोनों कुछ रास्ते आगे पहुँचे, तब रास्ता भूल जाने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। चहुँदिस सुनसान था। अतः रास्ता पूछे किससे? अब वे दोनों उसी जगह पर बैठकर चिन्तातुर होकर सोचने लगे कि ऐसी आपत्कालीन स्थिति में हमारे शास्त्रों में क्या करने को कहा गया है? उन दोनों में से एक को तुरन्त शास्त्र का विधान याद आ गया और उसने कहा-‘महाजनो येन गतः स पन्थाः’ अर्थात् महाजन जिस रास्ते पर चलें, वही रास्ता है। उन दोनों ने निश्चय किया कि ठीक है!

अब शास्त्र प्रमाण युक्त निर्णय करने के पश्चात् चारों ओर आँख फिराने पर कुछ दूर से चार जन मुर्दे को कन्धे पर उठाकर आते हुये दिखाई दिये। उन्हें देखकर दोनों विचार करने लगे-‘आये तो सही परन्तु है कौन?’ जब वे लोग नजदीक आ पहुँचे, तब पूछा-‘आप लोग कौन हैं और कहाँ जा रहे हैं?’ उन्होंने प्रत्युत्तर दिया-‘हम लोग महाजन हैं, स्वकार्य करने जा रहे हैं।’ तब वे दोनों पण्डित भी ‘महाजनो येन गतः स पन्थाः’ सोचते हुए पीछे चलने लगे। जब श्मशान भूमिका का रास्ता तय हुआ, उसके बाद पुनः दोनों विचारकर सोचने लगे कि अब ऐसी स्थिति में शास्त्रों में क्या आज्ञा है? तब शास्त्र वचन याद आए ! अतः ‘राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः’- अर्थात् राजद्वार और श्मशान भूमि में जो स्थित हैं, वे भाई-बन्धु हैं।

अब दोनों पण्डित इधर-उधर देखते हुए जाने लगे। देखा कि नजदीक में एक गधा दूब चर रहा है। दोनों पण्डितों ने शास्त्राधार निश्चय किया-‘ये हमारे बन्धु हैं।’ अतः उस गधे को पकड़कर ले आये और सोचने लगे कि अब बान्धवों के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है? पुनः शास्त्रोपदेश याद आया-‘इष्टं धर्मेण योजयेत्’ अर्थात् बन्धु को धर्म में लगाना चाहिए।

तब दोनों पण्डित अधीर होकर सोचने लगे-‘धर्म क्या है?’ अन्ततः एक को याद आया और वह चिल्ला उठा-अहो धर्म ! ‘धर्मस्य त्वरिता गतिः’ अर्थात् ‘धर्म की चाल ऊँट की-सी होती है।’ अब ऊँट कहाँ मिले? यह सोचते हुए दोनों ने चारों ओर नजर फिराई। दैव संयोग से वहीं एक ऊँट आते हुए मिल गया। अब बन्धु उद्धार कर्तव्य में देरी किस लिए? उन पण्डितों ने तुरन्त ही उस ऊँट को पकड़कर भाई की जगह में उपस्थित कर दिया और ऊँट की गर्दन में गधे को बाँध दिया अर्थात् भाई को धर्म में लगा दिया।

तदुपरांत शास्त्रीय धर्मवृद्धि का उमड़ता हुआ बड़ा ही रोमांचित एवम् दर्शनीय दृश्य शुरू हुआ। क्षणभर में आस-पास के सभी लोग एकत्रित हो गये। वे दोनों पण्डित भी उक्त अपूर्व दृश्य देखते हुए सोचने लगे-‘भाई को धर्म में लगाया हुआ, ऐसा दृश्य कभी देखने को मिलता है!’ एक ओर भाई ‘हेंको-हेंको’ करते हुए पैर फेंक रहा है, तो दूसरी ओर धर्म गर्दन घुमाते-फिराते हुए मुख से फेन निकाल रहा है। ऐसा अनूठा अपूर्व दृश्य देखते ही दर्शक वर्ग ने पूछा-‘ये आप लोग क्या कर रहे हैं?’ दोनों पण्डितों ने शास्त्र प्रमाण सिद्ध करते हुए कहा-‘भाई को धर्म में लगा रहे हैं।’

तत्क्षण दर्शक वर्ग के मध्य से दो चार अशास्त्रीय जनों ने भाई को धर्म से छुड़ाकर दोनों के जान की रक्षा की।

अतः देखियेजी! उक्त शास्त्र प्रमाण के प्रयोग से यदि सावधान न रहें, तो शास्त्र-शास्त्र ही है, परन्तु उक्त प्रकार ऊँट की गर्दन में लटकने कभी नहीं पहुँचेंगे, ऐसा कह नहीं सकते।

वेदज्ञजी! यह सिद्धान्त तो किसी भी निर्णयात्मक विषय में दीर्घ-सूत्री बनकर नहीं रहता! जब बच्चा 'च्याँ.....च्याँ..... आवाज करे, तब तुरन्त ही पैर उलट-पुलटकर लिङ्ग निश्चित करके कह देता है कि बालक है या बालिका, पुलिङ्ग है या स्त्रीलिङ्ग', 'मूँछ और दाढ़ी' तो पीछे आती रहेगी। उसी तरह ब्रह्मतत्त्व के विषय में भी सम्पूर्ण आप्तोपदेश उलट-पुलटकर सैद्धान्तिक धर्म ग्रन्थों के पन्ने घुमाते-फिराते हुए निश्चित कर 'सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः' । 'परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परागतिः।' (तेजबिंदोपनिषद् ६/६७) कहते हुए, मानते हुए चल रहा है और चलता ही रहेगा। न दीर्घ-सूत्री बना है और न किसी काल में बनेगा तथा न दूसरा जन्म ही लेगा।

कारण-

पातः पक्वफलस्यैव मरणं दुर्निवारणम् ।

आयुर्गलत्यविरतं जलं करतलादिव ॥

अर्थात् पके हुए फल की तरह मरण आज या कल तो निश्चित ही है। आयु प्रतिक्षण उसी तरह क्षीण होती जा रही है, जैसे अँजुली से पानी!!

❀ लँगोट बाँधना हो तो नाड़ा मज़बूत ❀

आज बीसवीं शताब्दी में आ पहुँचे सनातन धर्म का प्रत्यक्षावगत स्वयं कराने का प्रमाण 'विवरण पत्र' दे रहा है! उक्त पुस्तिका के पेज नं. १५२ में 'स्वधर्म निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'- गीता के इस प्रमाण के साथ स्वधर्म सिद्ध किया गया है और 'हम ऐसे ही स्वधर्मी हैं'-ऐसा कहते हुए निम्न पंक्ति से हृदयस्थ पालनीय धर्म अंकित किया गया है। इस वैज्ञानिक युग में स्वात्मा-कल्याणार्थ धर्म पालन करने के अधिकार से वञ्चित वृद्ध-माताओं के द्वारा भी यह कथन प्रयोग होता है 'झूठ देर तक टिकता नहीं'। यसर्थ सत्यानुयायी होना चाहिये। अतः ये बातें सभी समझते और जानते हैं। परन्तु सभी को परलोक का मार्ग बताने और धर्म-मार्ग दिखानेवालों के हृदय में ये बातें क्यों नहीं जमती कि 'आक्षेप-आरोपपूर्ण झूठी बातें कभी नहीं टिक सकतीं।' नहीं तो, धर्म सिद्धान्त के प्रति ऐसे कपोल-कल्पित आरोप लिखते ही लिखनेवाले के दिल में एक भूकंप-सी हलचल शुरू हो जाती है। अरे! 'चोर की दाढ़ी में तिनका' ऐसा कहते ही 'चोर के हाथ का मूँछ में पहुँच जाना'!! कैसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि 'हम ऐसे ही, यहीं तक की सत्यवादी वास्तविकतानुसार स्वधर्म के कट्टरवादी वैदिक सनातनी हैं।' देखो..... देखो न! स्वधर्म स्वमुख से ही आह्वान किया जा रहा है!!

उक्त युगानुकूल हृदयस्थ स्वधर्म को देखकर सम्पूर्ण विवेकशील आम जनता भी अपने-अपने विवेक द्वारा प्रामाणिक रूप में प्रत्यक्ष निर्णय करें, ऐसा कहते हुये स्वधर्म कल्पित निर्णयात्मक वैदिक ज्ञान का लीप-पोत किया गया है। यदि यथा तथ्य निर्णयपूर्ण

विषय का ज्ञान कलम बद्ध लिखा गया था, तो लिखकर लीप-पोतकर मिटाया क्यों गया ? यदि नहीं, वह झूठ, स्वदिल-दिमाग से कल्पित तथा अपने दिल-दिमाग से ही असह्य अपराधयुक्त था, तो बिना निर्णय इस विषय में कलम चलायी ही क्यों गयी ? समय के निमित्त उक्त विषय के निर्णय हेतु सप्रमाण कमर बाँधकर तैयार रहने के लिए सूचित करते हैं। आश्चर्य के कइयों प्रकारों में से यह तो शरमसार (शरमिंदा) कर देनेवाला आश्चर्य है। क्या समय आने पर घर की छत से जैसे पाप पुकारने लगता है, इसी प्रकार अवगत करा रहे हैं ? अरे! क्या 'विवरण पत्र' के शुरुआत से लेकर शिशुपालवत् बकवास लिखते जाते पेज नं. १५२ पर पहुँचते ही हृदयस्थ छिपा हुआ जघन्य अपराधरूपी पाप प्रकट हो ही गया ? क्या यही है १०८ के निशान ? वह भी गीता प्रमाण सहित यथा- 'स्वधर्म निधनं श्रेयः' समाजमें प्रदर्शित कर रहे हो कि हमारा पालनीय सनातन वैदिक धर्म ऐसा ही है!!

यह श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त तो ऐसे वैदिक धर्म का पालन करने हेतु वर्जित करता है। यह सिद्धान्त कहता है कि यथा तथ्य निर्णयहीन विषयों में मौन रहना चाहिए, न कि अन्धाधुन्ध कलम चलानी चाहिए क्योंकि यदि लँगोट बाँधना है, तो नाड़ा मज़बूत होना अत्यन्त जरूरी है। यदि लँगोट बाँधते-बाँधते ही नाड़ा टूट जाय, तो ? इससे तो लँगोट बाँधने के पूर्व की स्थिति रहने में ही इज्जत है क्योंकि नागा साधुओं का भी तो एक स्तर (दर्जा) होता है। परन्तु उक्त वैदिक विद्वान जैसों का क्या स्तर-कौनसा दर्जा है!

अब विचार-विवेकवत् दृष्टि से देख लीजिए तो ! उक्त धर्म की गतिविधि कैसी ? 'मद माते मरकट ज्यो, करे सो अनेक रूप' अर्थात् यह तो केवल मादक धर्म का परिणाम मात्र है । इसमें 'धर्मस्य सूक्ष्म गतिः' का निर्णय कितना है ? है तो शून्य । अतः उक्त गीता प्रमाणानुकूल 'स्वधर्मं निधनं श्रेयः' स्वधर्म में ही मरना श्रेयस्कर है । अतः सर्व मानवमात्र स्वधर्म पर दृढ़ हैं, तो क्या 'उदरनिमित्तबहुकृतवेषम्' भी तो एक धर्म ही है, नहीं ? परन्तु लँगोट बाँधने का समय आने से पूर्व ही नाड़े को मजबूत कर लेने से पेज नं. १५२ की तरह हृदयस्थ गुप्त स्वधर्म के गतिविधि की सुरक्षा होगी !!

❀ प्रणामियों के श्री राजजी ❀

“राजते अतिशयेन प्रकाशते असौ इति राजः ।”

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्तानुयायी भक्तजनों के व्यवहारिक पक्ष में आये हुए 'राज' शब्द की नवीनता विषय वैदिक-हिन्दू ही है या नहीं ? इस विषय में निम्न प्रकार से समझनाजी !

विवेकशील सुज्ञजनों तथा जानने-समझने की चाहना रखनेवाले जिज्ञासुजनों के प्रति श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ९ के दूसरे श्लोक में 'राज' शब्द की मर्मज्ञता स्पष्ट करायी गयी है कि-

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

- (गीता, ९/२) ।

अर्थ: इसे सभी विद्याओं का राजा, सभी गोपनीय का भी राजा एवं पवित्रों में भी अतिपवित्र तथा उत्तमातिउत्तम पुनः प्रत्यक्ष फलवाले धर्मयुक्त और साधनीय साधनाओं में से अतिसुगम अविनाशी जानना तथा समझाना !

उक्त विषय स्वयं भगवान श्री कृष्णजी सावधान करते हुए कहते हैं कि-

वेदेषु यज्ञेषु तपः सु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

- (गीता, ८/२८) ।

अर्थ: हे अर्जुन ! योगीपुरुष तो इस रहस्यपूर्ण तत्त्व को जानकर वेदाभ्यास करने में, यज्ञ, तप और अनादि कर्मों द्वारा जो फल प्राप्त होते हैं, उनका उल्लङ्घन (परित्याग) कर विशुद्ध ज्ञान द्वारा सनातन परमपद प्राप्त करते हैं।

उक्त श्लोक के पश्चात् सावधान करते हुए उत्तमातिउत्तम परमपद के विषय में नौवें अध्याय से शुरुआत करते हुए कहते हैं कि -

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

- (गीता, ९/१) ।

अर्थ: हे अर्जुन ! मैं तुम्हें दोष दृष्टि रहित भक्तजनों के

निमित्त यह परम गोपनीय ज्ञान रहस्य सहित खुलस्त करता हूँ, जिस ज्ञान को जानकर-समझकर भक्तजनों की आत्माएँ दुःखरूपी दुस्तर संसार से मुक्त होती हैं।

उक्त प्रकार से बिलकुल सावधान करने के बाद भी कहते हैं कि -

‘राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।’

यदुपरांत प्रत्यक्ष अवगत होता है कि सब विद्याओं में राज, सर्वोत्तम विद्या है। यसर्थ सम्पूर्ण प्रकार के ज्ञान में से राजा, गोपनीय में से अत्यंत गोपनीय, रहस्यमय, पवित्र में भी अत्यंत पवित्र, दोष दृष्टि रहित है, सर्वगुणसम्पन्न ‘राज’ शब्द ही है, यह प्रत्यक्ष ही अवगत हो रहा है, जो विभिन्न प्रमाणों द्वारा प्रमाणित तथा नीतियुक्त सिद्ध एवम् यथा तथ्य निःशंक अटल है।

अब शास्त्रादि में मुख्यतः श्रीमद्भगवद्गीता और शास्त्रवक्ताओं में से स्वयं भगवान श्री कृष्णजी द्वारा स्पष्ट किये गए ‘राज’ शब्द की अवहेलना करनेवाले वैदिकजन, योगेश्वर और योग को माननेवाले वैदिक हिन्दू हैं या ‘राज’ शब्द में जी लगाकर आदरपूर्वक श्रद्धायुक्त ‘राजजी’ शब्द द्वारा ‘ब्रजेश विश्ववन्दनम्’ स्वरूप को मानने-पुकारनेवाले भक्तजन वैदिक हिन्दू हैं? अपनी-अपनी छाती पर हाथ रखकर अपनी-अपनी आत्मा को ही पूछ लीजिये। अतः पुनः निष्पक्ष धर्मवत् दृष्टि से देखते हुए विचार-विवेक करें! उक्त शब्दयुक्त साधना वैदिक और हिन्दू धर्मान्तर्गत है या नहीं, इस बात का निर्णय विवेकशील सुज्ञजनों के ऊपर ही छोड़ देते हैं।

यदुपरांत ‘विवरण पत्र’ अन्तर्गत की लेखनी के प्रति विभिन्न

प्रश्न खड़े होते हैं कि लेखनी चलाते समय वेदज्ञजी ने अज्ञानवश लेखनी चलायी थी या सज्ञानयुक्त चलायी थी ? यदि अज्ञानावस्था में चलायी थी, तो क्यों ? अतः यदि सज्ञानयुक्त होकर चलायी भी थी, तो दूसरे के सिद्धान्त के विषय में सिरदर्द होने का कारण तो स्पष्ट कर दीजिये ! मलहम-पट्टी कर देंगे, जिससे कि आपको सिरदर्द से मुक्ति मिल जायेगी, वेदज्ञजी बोलिये ?

उक्त पुस्तिका के अन्तर्गत उल्लिखित विषय द्वारा अवगत होता है कि जब राज शब्द की व्युत्पत्ति ही 'तोते के राम-राम' की-सी रटतम विस्मृत, तब 'यथानाम तथा गुणः' का विवेचन कहाँ से-कैसे अवगत हो ? तत्पश्चात् अनूठा, अवैदिक और अहिन्दुत्व क्यों न लगे ? पुनः एक ही राज्यान्तर्गत प्रजा में होकर जो स्वयं को ही राजा घोषित करने में लालायित होता है, वह सर्वदेशी राजा की उच्चतम पदवी के गुणयुक्त नाम को ज्ञात करेगा ही कैसे ? स्व-दंपति अंतर्गत उत्पन्न घर-परिवार मध्यस्थ घर-घर के राजा द्वारा सर्वदेशी राजाधिराज का पद चिह्न श्री पेचयुक्त अधिकार का अभिमान घमण्ड करना, तो टिटिहरी द्वारा आसमान को थामने जैसा नहीं होगा ? वह भी धर्म सिद्धान्त पर !!

अतः वेदज्ञजी ! आपको ही सम्बोधित करते हुए यदि कोई कहे कि 'यहाँ आ जाइये पण्डित और यहाँ आ जाइये पण्डितजी' तो इन दोनों में से क्या कहने पर आदर, शिष्टाचार और व्यवहार कुशल अर्थात् उक्त त्रिपक्ष योग्य लगेगा ? पुनः नामोच्चारण में भी जैसे - 'राम-रामजी-श्री रामजी' और 'कृष्ण-कृष्णजी और श्री कृष्णजी' में से भी बताइये ? आश्चर्य ! विद्वत्तापूर्ण विद्वान वर्ग ही

यदि वर्तमान आधे दिमागवाले पागल-से बन जायें, तो भूत-भविष्य में, आगे-पीछे देखेगा कौन ? आगे के श्री और पीछे के जी के आदर एवम् शिष्टाचार तथा व्यवहार के प्रति निपुण मर्मज्ञजनों ने 'राज' शब्द के जी युक्त जैसे- 'राजजी-राजजी' में विवेक पहुँचाये बिना ही क्यों उस तथ्य को अवैदिक तथा अहिन्दू घोषित कर कलम चला दी ? कहीं किसी असंतोष के कारण तो नहीं ? उभय पक्षों का कारण यथा तथ्य अवगत करायें। शायद उनके उस रोग के इलाज के साथ उन्हें संतोष धारण कराया जा सके !

पुनः श्री कृष्ण क्यों, ॐ कृष्ण कहलवाना चाहते हैं क्या ? तालीम दिलाने का केन्द्र निश्चित ही खड़ा करें ! राधेश्याम, गौरीशंकर, सीताराम, लक्ष्मीनारायण को बहिष्कृत करके ॐ कृष्ण, ॐशंकर, ॐ राम और ॐ विष्णु के संशोधन के साथ तालीम न दें, तो वैदिक अथवा हिन्दू कैसे कहेंगे ? नहीं तो आप, "ॐ खण्ड घिसकर चन्दन श्री के महत्त्व को समझन" !! पुनश्च-

किरीटकेयुरमहार्हनिष्यै

र्मण्युत्तमालंकृत सर्वगात्रम् ।

पीताम्बरं काञ्चनचित्रच्छ

मालाधरं केशवमभ्युपैमि । ।

अर्थ: जिनके मस्तक में किरीट, बाहु में भुजबन्ध और गले में बहुमूल्य हार शोभायमान है। पुनः मणियों के सुन्दर गहनों से युक्त सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुशोभित हो रहे हैं तथा शरीर में पीताम्बर लहरा रहा है। अतः सोने के तारों में विचित्र प्रकार से पिरोयी हुई

वनमाला धारण करनेवाले उन्हीं भगवान श्री कृष्ण के युगलचरणों का मैं मन ही मन चिन्तन करता हूँ।

उपरोक्त प्रकार की प्रार्थना द्वारा श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के साप्ताहिक पारायण में स्तुति-प्रार्थना सहित संग्रह की हुई सम्पूर्ण संग्रहणीय सामग्रियाँ जैसे-नैवेद्यादि द्वारा किये गए पूजन-आरती, पुष्पमाला आदि किसके लिए अर्पण किया और कराया गया था ? क्या वह सभी श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के कागज के पोथे को अर्पण किया गया था, ग्रन्थ के अन्दर की भाषा को अथवा श्रीमद्भागवत ग्रन्थ के अन्तर्गत वर्णित लीलाकर्ता ज्ञानपूर्ण भगवान श्री कृष्ण को ? यदि भगवान श्री कृष्ण को ही किया और करवाया गया है, तो कह दीजिये कि यह वैदिक पद्धति है या अवैदिक ? श्री को बहिष्कृत भी नहीं किया गया है अहिन्दू अथवा खिचड़ीवत् ! पुनः 'विवरण पत्र' के पेज नं. ७९ में स्व-विचार की तरह अरबों रुपये खर्च न हों, तब तक इस प्रकार की पूजन-पद्धति को वैदिक-हिन्दू की जगह में स्वीकृत नहीं करेंगे न ? पुनः 'प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि' प्रमाणादि भी कहाँ ले जाकर छिपायेंगे ? उक्त विषय में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष का निर्णयात्मक विवेचन क्या है ? अतः यदुक्तं-

आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः ।

स परैर्हन्यते मूढो नीलवर्ण शृंगालवत् ॥

अर्थात् आत्मपक्ष परित्याग से नीलवर्ण शृंगाल-सियार की-सी गति भी नहीं होगी, ऐसा कह नहीं सकते !!

❀ वेदज्ञानों की विद्वत्ता में मतभेद ❀

विचार-विवेकवत् विमर्श करने योग्य विषय निम्न प्रकार के हैं। जैसे-वैदिक वेदज्ञानों के अग्रगण्य निवृत्ति मार्ग के धर्मज्ञ श्री १०८ स्वामी ईश्वरानन्दजी महाराज ने 'विवरण पत्र' के पेज नं. १५ में धर्म सिद्धान्त के प्रति लिखा है कि- 'अक्षर शब्द द्वारा ब्रह्म को मानने के पश्चात् फिर उसके ऊपर अक्षरातीत तत्त्व को सगुण साकार रूप में मानने से स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि दिखाई देती है। अतः दूसरी बार संशोधन होने के पश्चात् तीसरी बार भी संशोधन की आवश्यकता होगी। तीसरी बार के संशोधन में यह धर्म जिस स्रोत (प्रवाह) से प्रस्फुटित होकर निकला है, उसी धारा में जाकर पूर्णतया मिलनेवाला है। इस विषय में पूर्ण रूप से विश्वास है। शंका की गुंजाइश ही नहीं।'।

उक्त प्रकार के विवेचनात्मक निर्णय ने श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त के प्रति औरंगज़ेब द्वारा हिन्दू धर्म में की गयी घोषणावत् अमान्य 'अक्षरातीत तत्त्व को ही अदार्शनिक' कहते हुए निश्चित किया हुआ तत्त्व अस्पष्ट है।

पुनः पेज नं. ७३ में स्वपक्ष के ही वैदिकों में से अग्रगण्य वेदज्ञानी ने लिखा है कि 'शङ्कराचार्य' ने अनेकों स्तोत्रों द्वारा पुनः शिव, विष्णु, राम, कृष्ण और देवियों के नाम द्वारा भी 'अक्षरातीत परब्रह्म' की स्तुति-प्रार्थना की हुई बातें लोक प्रसिद्ध हैं। पुनः दूसरी जगह पेज नं. १०८ में लिखते हैं कि 'उसी प्रकार (पेज नं. ७३ की तरह) शिव, विष्णु, राम और कृष्ण आदि हमारे शास्त्र के किसी भी प्रचलित नाम द्वारा 'अक्षरातीत परब्रह्म' का भजन-स्तुति और प्रार्थना

हो सकती है।’

अब उपरोक्त उभय महाशयजनों के कहने और लिखने से विषय की तात्पर्यता क्या निकलती है? स्वपक्ष के ही एक जन ‘अक्षरातीत परब्रह्म तत्त्व’ शङ्कराचार्य प्रमाणयुक्त मान रहे हैं और दूसरे महाशयजी उसी ब्रह्मतत्त्व विषय ‘स्पष्ट ही दार्शनिक त्रुटि’ दिखाते हुए घोषणा के साथ कलम चला रहे हैं। स्वपक्ष में ही विभीषण प्रकट हो चुकने के बाद निर्णय देने के समय में क्या करेंगे? कैसे-किस प्रकार निर्णय सिद्ध करेंगे? या तो उस निर्णय देने के समय में द्वापर के अन्त में हुए यदुकुल संहार के धर्म का अनुकरण करेंगे क्या? श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त अहिंसक होने के कारण ‘यदुकुल संहार का दृश्य देखना न पड़े’-यह सोचकर अनुरोध के साथ-साथ सावधान कर रहा है कि ‘जब तक जिस स्रोत से प्रस्फुटित होकर निकले हैं, उसी स्रोत में जाकर पूर्णतया न मिल जायें, तब तक तो शान्त रहना चाहिये था न! क्यों पहले ही ‘अक्षरातीत परब्रह्म तत्त्व’ पकड़ लिया, ऐसा मान लिया? नहीं पकड़ते, तो समय पर अपने मुँह से लगाये हुए आक्षेप-आरोप सिद्ध साकार कर लेते थे, नहीं? अब वे आक्षेप-आरोप किसके ऊपर और किस लिए? सविनय आग्रह करते हैं कि आप लोग आपस में यदुकुल संहार न करें।

पुनश्च -

उक्त पुस्तिका ‘विवरण पत्र’ के पेज नं.८२ में किए गए उल्लेखानुसार वेदों द्वारा-वेद में से राम-कृष्ण के ही अवतार अभी तक मान्य नहीं हैं, वही वेदज्ञ दिमाग पुनः ‘तुलसी का मठ तोड़ने,

श्री शिव मंदिर, कृष्ण मंदिर तोड़-फोड़कर उसी प्रकार का प्रचार-प्रसार भी करते चल रहा है'- ऐसा कहते हुए नेपाल अधिराज्य के राजगुरु बड़े गुरुजी के कान तक झूठे अपवाद की शिकायत करने भी पहुँच गया ? क्या ऐसी मनमानी करना ही वर्तमान कलिगुण ग्रस्त वैदिक सनातन धर्म है ? राम-कृष्ण के अवतार में ही जिनकी शङ्का अभी तक मिटी नहीं है, उस दिमाग द्वारा राधा-कृष्ण के ही अवतार तुलसी आदि की मान्यता का कथन किस लिये ? अब विवेकवत् देखो..... देखो ! तुलसी के मठ को तोड़-फोड़ किया किसने ? हँ ! बिजली के पावर हाउस में से निकले हुए, विभिन्न तेज-प्रकाश में से ज्यादा-तेज, कम-तेज को निस्तेज कर देता है अथवा ज्यादा शक्तिशाली पहलवान कम शक्तिवाले को पछाड़ देता है और घसीटकर ले जाता है। अतः 'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि' की तरह नौ लक्ष तारागणों के तेज को मात्र एक चन्द्रमा का तेज शून्यवत् कर देता है और अन्धकार मिटा देता है। यह बात तो मानते हैं न ? उसी प्रकार विश्वात्माओं की आत्म-शक्ति को अपने में समाविष्ट कर घसीटते-खींचते हुए स्वधाम में पहुँचानेवाला होने के कारण ही तो 'ब्रजेश विश्ववन्दनम्' विश्व की आत्माओं द्वारा वन्दनीय माने गये अवतार में भी शङ्का ? तब पुनः बुद्ध और कल्कि अवतार को किस आधार पर और कब समझेंगे और मानेंगे ? कारण- 'श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी' के घेरे के परवश हुए कैदियों के दिमाग में मनुकल्लूक भट्ट त्रेतायुग के राम और द्वापरयुग के कृष्ण को ही आज तक घुसने नहीं देता है, दिया नहीं है, तो पुनः बुद्ध और कल्कि तो किस प्रकार घुसने देंगे

और वे कब समझ सकेंगे ? विवेक द्वारा गणना करें, तो त्रेता-द्वापर के अवतारों के प्रति ही ऐसी गती है, तो वे बुद्ध-कल्कि को किस युग में और कौन-सी गति में समझेंगे, पुनः किस जन्म में ? अब इसी जन्म की मान्यता देखें, तो उन्होंने राम मंदिर और कृष्ण मंदिर के साथ-साथ राम, कृष्ण, पुनः रामायण-महाभारत, गीता-भागवत आदि को कहाँ पहुँचा दिया ? अतः वे अवैदिक-अहिन्दू नहीं हुये ? ठीक है, कलि प्रभाव जोरावर 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के आधार पर स्वयं के अलावा अन्य को क्यों जानें और क्यों मानें ? अवैदिक और अहिन्दू नहीं होंगे ?

❀ आसाम बेराजन काण्ड ❀

'श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म के अनुयायी बन्धुजनों ने आसाम के बेराजन में सामाजिक शिव मंदिर को तोड़-फोड़ किया'-ऐसा कहते हुये उक्त विषय को लेकर धर्म सिद्धान्त को ही दूषित-कलंकित सिद्ध करने हेतु मनगढ़न्त मिथ्या आरोपों का प्रचार-प्रसार किया है, यह स्वतः सिद्ध है। कारण यदि वहाँ आसाम-बेराजन में सामाजिक धन द्वारा निर्माण किए हुए सार्वजनिक शिव मंदिर में तोड़-फोड़ किया था, तो वह शिव मंदिर बनानेवाले मंदिर रक्षक तथा धर्मानुयायियों ने राजकानून द्वारा मंदिर तोड़नेवाले प्रणामी आतङ्की-अत्याचारीजनों को दण्डित क्यों नहीं कराया ? स्वपिता के जनमाये हुए लड़के-लड़की के प्रति अथवा पति-पत्नी के बीच भी एक-दूसरे पर ऐसा व्यक्तिगत अत्याचार-अनाचार किया जाय, तो पञ्च-अदालत से इनसाफ-न्याय दिलाया जाता है, तो क्या वहाँ के प्रणामी अत्याचारी, ऐसे सार्वजनिक मंदिर तोड़नेवाले

सामाजिक अपराधी के प्रति राजकानून स्वतन्त्र था ? या भारत सरकार ने उतना बड़ा सामाजिक अपराध करने के लिए प्रणामी बन्धुओं को स्वतन्त्रता बख्शिाश की थी ? या फिर आसाम राज्य केंद्र सरकार के राजकानून से बाहर था ? पुनः या फिर आसामभर में प्रणामी समाज के सिवाय अन्य समाज शून्य था ? या तो अवश्यमेव उक्त विषय ही मनगढ़न्त तथा न्याय-इन्साफ के बाहर था ?

अतः उक्त विषय विचार-विवेकशील व्यक्तियों के समक्ष सत्य नहीं ठहरता है। शिव मंदिर सामाजिक था और उसे प्रणामी धर्मानुयायियों ने तोड़ा है, ऐसी बातों में सोलह आना ही दाल में काला प्रत्यक्ष नजर आता है। एक ओर “मन्दिर की प्रतिष्ठा करनेवाले के ही सुपुत्र परशुराम उप्रेतीजी” भी ‘विवरण पत्र’ के पेज नं. १७८ में लिखते हैं, और दूसरी ओर “सामाजिक शिव मंदिर” भी, अतः मंदिर की प्रतिष्ठा करनेवाला कोई एक व्यक्ति था या समाज अथवा सामाजिक शिव मंदिर की प्रतिष्ठा कर्ता सामाजिक पिता के पुत्र ही परशुराम थे ? सामाजिक मंदिर का प्रतिष्ठा कर्ता समाज ही होना चाहिये, नहीं ? नहीं तो कम से कम अत्याचारी को दण्डित तो कराया ही जाना चाहिये था, नहीं ?

पुनः व्यक्तिगत मंदिर के प्रतिष्ठा कर्ता के जीवित रहने के दस महीने पूर्व ही शिव मंदिर से भा.रु.३५० मूल्य की शिव मूर्ति अपने विश्वासी शिव भक्त को बिना मूल्य लिए दान देकर, वे स्वयं कृष्ण भक्ति ग्रहण करके, दस महीने बाद परलोकवासी हो गए, तथा उस दान की गई शिव मूर्ति, वे शिव भक्त के घर में पूजनादि कर रहे हैं-ऐसा कहनेवाला समाज अभी भी जीवित है। उक्त विषय

का अत्याचार किस पक्ष में है ? इसका निर्णय विवेकाधार लुप्त है । परन्तु अब निम्न प्रमाणों द्वारा ही तथ्य बातें स्पष्ट होंगी और सज्जन पाठकवृन्दजन जरूर ही यह निर्णय कर लेंगे कि प्रणामी बन्धुजनों ने वास्तव में ही शिव मंदिरकी तोड़-फोड़ की है या इसमें वैदिक वेदज्ञजनों की विद्वत्ता में छिपे हुए ईर्ष्या-द्वेष स्पष्टरूपेण आम समाज के सामने झलक रहे हैं ! आसाम की ही पञ्चायत द्वारा एवम् जिस शिव मंदिरकी तोड़-फोड़ करने के मिथ्यारोपों का प्रचार किया गया था, उसी शिवलिङ्ग का पूजन कर रहे पुजारी श्री पद्म प्रसाद प्रसाईं ने स्वयं ऐसा स्वीकार किया है कि यह बात सरासर-सोलह आना ही झूठी और मिथ्या प्रचार है । ऐसा झूठा प्रचार करनेवाले हमारे नेपाली वैदिक विद्वान मात्र समाज पर ही नहीं, बल्कि देश पर भी आघात पहुँचा रहे हैं । ऐसा कुकृत्य किये विषय आसाम प्रवासी नेपाली दुःख प्रकट करते हुए वर्तमान वही शिवलिंग पूजनेवाले पुजारी सहित पंचायत के सभापति और आसाम बेराजन के अग्रगण्य महानुभाव लिखित प्रमाण पत्र भेज रहे हैं ।

प्रमाण पत्र नं. १

Shri M. Sharma
Executive Councillor,
President, Standing committee for public works,
Tejpur Mahkuma Parishad

Date: 22.12.1977

श्री कृष्ण प्रणामी धर्म संरक्षण समिति झापा, मेची अञ्चल द्वारा भेजे हुए प्रतिनिधि श्रीमान् बलिदास बस्नेतजी द्वारा दिया हुआ प्रमाण पत्र ।

विश्व के एक मात्र हिन्दू राष्ट्र अंतर्गत स्थित हमारे नेपाल के राष्ट्रनायक सम्राट श्री ५ महाराजाधिराज वीरेन्द्र वीर विक्रम शाहदेवजी की प्रबल प्रतापी छत्रछाया में जनशक्ति के एकीकरण के साथ देश के विकास की महान्-महत्त्वपूर्ण योजना सम्पन्न हुई, जिसे देखकर हम तेजपुर निवासी प्रवासी नेपालीजन श्रद्धा-भक्ति के साथ अत्यंत गद्गद और प्रसन्न हैं।

साथ-साथ नेपाल राष्ट्र सरकार के आदर्श में विश्व-बन्धुत्व एवम् देश में शान्ति की घोषणा होते हुए भी दुःखपूर्ण प्रसंग यह है कि नेपाल स्थित धरान के वृहदाध्यात्मिक परिषद शाखा धरान, सुनसरी, कोशी अञ्चल के 'सापकोटा प्रिंटिंग प्रेस' द्वारा २०३३ में मुद्रित 'विवरण पत्र' नामक पुस्तक पढ़ी, जिसके पृष्ठ १७८ में उल्लिखित शिव मंदिर, शालग्राम में तोड़-फोड़ की गई बातों द्वारा श्री कृष्ण प्रणामी धर्मावलम्बियों पर मिथ्या कलङ्क लगाया है।

उक्त पुस्तक के विद्वान प्रकाशकों द्वारा घटनास्थल का परिदर्शन किये बिना तथा बिना समझे-बूझे ही श्री कृष्ण प्रणामी भक्तों पर आक्षेप-आरोप लगाना सरासर सौ प्रतिशत मिथ्या-झूठ है क्योंकि जिस शिवलिङ्ग तथा शालग्राम के तोड़-फोड़ का मिथ्या अपवाद श्री कृष्ण प्रणामी भक्तजनों पर थोपा जा रहा है, वह शिवलिङ्ग और शालग्राम वर्तमान में तेजपुर के नौविल ग्राम में स्थित श्रीमान् पद्म प्रसाद प्रसाईंजी के घर में पूजित है और प्रमाण के लिए कि यह शालग्राम वही है, दोनों ही पञ्चायतों के सभापति द्वारा प्रदत्त लिखित प्रमाण और पुजारीजी की फोटो सहित मौजूद है।

नेपाल के वैदिक विद्वानों द्वारा देश में शान्ति, प्रेम, मैत्री

भाव और सद्भावना के प्रचार-प्रसार का विस्तार करने के बजाय उक्त प्रकार से विपरीत कार्य में सक्रिय होते देखकर हम सभी प्रवासी नेपाली आश्चर्यचकित हैं। वैदिक विद्वानों के ऐसे अकाल्पनिक कार्य द्वारा देश के गौरवशाली इतिहास पर कलङ्कपूर्ण आघात आना संभव है।

- मंगलचन्द्र शर्मा
प्रेसिडेंट, स्टैंडिंग कमेटी फॉर
पब्लिक वर्क्स तेजपुर महकुमा परिषद

विशेष द्रष्टव्य पंचायतः

- १) रंगाजान मौजा पंचायत
- २) मुडादल मौजा पंचायत

प्रमाण नं. २ -

‘प्रणामियों ने शिवलिङ्ग तोड़ा’-यह कहकर आरोप लगाया था, परन्तु उसी शिवलिङ्ग के पुजारी के मुख का बयान :-

श्री कृष्ण प्रणामी धर्म संरक्षण समिति, शनिश्चरे, झापा-नेपाल द्वारा भेजे हुए प्रतिनिधि श्री बलिदास बस्नेतजी, स्थानीय श्री खेमप्रसाद उपाध्याय, दुंगेल शास्त्रीजी तथा देवीप्रसाद उपाध्याय आचार्यजी-इन महानुभावों के समक्ष मैं अपना बयान देता हूँ।
पूजनीय सज्जनवृन्द!

मैं, मुणदल पंचायत के अंतर्गत नौविल ग्राम, पो. आफिस-नाहरवारी, थाना-सतिया (बिट आफिस), जामुगुरी हाट, जिला-दरङ्ग, आसाम निवासी श्री पद्म प्रसाद प्रसाई, पिता-स्व. महेश्वर प्रसाई, माता-स्व. गंगामाया प्रसाई, उम्र-५० वर्ष ।

मैं, स्वयं पूजित शिवलिङ्ग के विषय में सत्य बयान प्रकट करता हूँ। आसाम के दरङ्ग जिले के रागाजान पंचायत अन्तर्गत स्थित बेराजन ग्राम, पो. आ. मानसिरी, थाना-तेजपुर (बिट आफिस) पाँच मील निवासी श्री परशुराम उप्रेतीजी के पिता स्व. धनपति उप्रेतीजी ने ९५ साल की उम्र में स्वयं द्वारा पूजित शिवलिङ्ग, नर्वदेश्वर और त्रिशूल सहित मुझे दान किया था, यह बात अकाट्य सत्य है।

वे अत्यन्त ही वृद्धावस्था में पहुँच चुके थे और विधिवत् पूजन-अर्चन करने में असमर्थ हो चुके थे। वे चाहते थे कि उक्त शिवलिङ्ग किसी योग्य भक्त को दान करें। उनकी इस प्रकार की इच्छा जानने के बाद, मैंने उनसे कहा-“आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो आप मुझे दे दीजिये।” तब उन्होंने सहर्ष राजी खुशी के साथ उक्त शिवलिङ्ग मुझे अर्पण कर दिया। मैंने उसे अपने घर ले जाकर गत २०२९ के आषाढ़ माह से उसकी पूजा-अर्चना की शुरुआत की और अभी भी कर रहा हूँ। परन्तु आज नेपाल स्थित धरान के आध्यात्मिक परिषद द्वारा साल २०३२ के कार्तिक गते ९-१०-११ के ‘विवरण पत्र’ पुस्तिका के पेज नं. १७८ पृष्ठ पर श्री परशुराम उप्रेती तथा उन प्रणामी धर्मावलम्बियों द्वारा शिवालय और शालग्राम तोड़ने-फोड़ने का झूठा अपवादरूपी प्रचार करते देख मुझे अत्यंत दुःख हुआ है। यह शिवलिङ्ग उप्रेतीजी का निजी शिवलिङ्ग था, अन्य जनता का सहयोग नहीं था। यसर्थ यह सार्वजनिक नहीं था। मैंने दान में प्राप्त किया हुआ शिवलिङ्ग और त्रिशूल सहीसलामत आज भी मेरे घर में है और उसका अर्चन-पूजन मैं आज भी कर

रहा हूँ। इस विषय में आज तारीख १२-१२-१९७७ के दिन स्थानीय गणमान्य महानुभावों श्री पं. खेमप्रसाद उपाध्याय ढुंगेल शास्त्रीजी, श्री गणेश बहादुर भण्डारीजी-इनके समक्ष पूजा स्थल में स्थित शिवलिङ्ग सहित उक्त महानुभावों के फोटो रूप में श्रीमान् बलिदास बस्नेतजी द्वारा दिया हुआ 'प्रमाण पत्र' सत्य है, इसमें कोई संदेह अथवा शंका-उपशंका का स्थान नहीं है।

श्री पद्म प्रसाद प्रसाई
नौविल, आसाम
१२-१२-१९७७

प्रमाण पत्र नं. ३ -

मुणदल गाँव पंचायत कार्यालय (नाहरवारी)
दाता-मृत धनपति उप्रेती मो. बेराजन मौजा
गरैडे मारी, थाना-तेजपुर, सदर जिला-दरङ्ग, आसाम।

अतः दानरूप में प्राप्तिकर्ता श्री पद्म प्रसाद प्रसाई शर्मा,
मो. नौविल, मौजा मुणदल, थाना-सोठीया, जिला-दरङ्ग, आसाम।

मेरी दोनों परिवारों के साथ अच्छी जान-पहचान है। स्व. धनपति उप्रेती और उनके सुपुत्र श्री परशुराम उप्रेती के ऊपर जिन विषयों का अभियोग टूट पड़ा है, विशेषकर 'शिवलिङ्ग तोड़ा, शिवालय में तोड़-फोड़ किया गया'-ऐसा कहते हुए नेपाल स्थित धरान के वृहद् आध्यात्मिक परिषद शाखा द्वारा 'विवरण पत्र' पुस्तिका के पृष्ठ क्र. १७८ में झूठा मिथ्या पूर्ण अपप्रचार किया गया, जिसके द्वारा धार्मिक और मानवीय मर्यादा पर अपघात पहुँचा है, उस विषय में उपरोक्त श्री परशुराम उप्रेतीजी द्वारा निवेदन चढ़ाए जाने पर

स्थानीय जाँच-पड़ताल के दौरान उक्त सभी प्रचार झूठे-मिथ्यावादी प्रमाणित हुए हैं क्योंकि उक्त शिवलिङ्ग ई.स. १९७३ गत २०२९ के आषाढ महीने में दानरूप में प्राप्त कर श्री पद्म प्रसाद प्रसाईं ने मेरे आगे सत्य बयान दिया है, पुनः साथ ही मैंने उन्हें पूजन-अर्चन करते हुए देख भी लिया। यसर्थ श्री परशुराम उप्रेती एवम् धनपति उप्रेती के सिर पर शिवलिङ्ग की तोड़-फोड़ के विषय में किसी व्यक्ति ने अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए झूठा प्रचार कर मिथ्यापवाद किया है, यह तथ्य सिद्ध होता है। इस विषय में स्वयं जाँच-पड़ताल कर यथा तथ्य बात निश्चित कर ग्राम पंचायत द्वारा यह प्रमाण पत्र सुपुर्द कर भेज रहे हैं। इति ।

श्री रामबहादुर थापा,
प्रेसिडेण्ट-मुणदल गाँव पंचायत,
पो. आ.नाहरवारी, जिला-दरङ्ग।
ता. १३-१२-१९७७

प्रमाण पत्र नं. ४ -

रांगाजान गाँ. पंचायत के सभापति श्री टिकबहादुर तामाङ्ग के नेतृत्व में हुई बैठक द्वारा दिया गया प्रमाण पत्र ।

दिनांक- ई. स. १५-१२-१९७७

माननीय स्थानीय रांगाजान ग्राम पंचायत के प्रधान सभापति श्रीयुत टिकबहादुर तामाङ्गजी के नेतृत्व में श्रीमान् अगम सिंह गेलालजी के गृह प्राङ्गण में निम्न स्वाक्षरकारी महानुभावों की उपस्थिति में 'तेजपुर के बेराजन ग्राम के श्री परशुराम उप्रेतीजी और वहाँ के प्रणामी धर्मावलम्बियों ने जमा होकर शालग्राम तोड़ा'-ऐसा कहने

के विषय में जो नेपाल के धरान की वृहदाध्यात्मिक परिषद शाखा (गीता भवन) में २०३२ कार्तिक ९-१०-११ गत की सभा द्वारा पारित की गई 'विवरण पत्र' पुस्तिका के १७८ पृष्ठ में उल्लिखित आक्षेप-आरोप कपोल-कल्पित, बिलकुल असत्य और ईर्ष्यालु ठहराया गया है। कारण उक्त शालग्राम आज की सभा के सभापतिजी की साक्षात् उपस्थिति में श्री परशुराम उप्रेतीजी और उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री नरपति उप्रेतीजी ने सबके समक्ष उपस्थित किया। हम उपस्थित सभी सभासदों ने उक्त शालग्राम को स्वआँखों से देख लिया है। यह बात ध्रुव-सत्य है। इसमें कोई सन्देह या शङ्का का अस्तित्व न होने के कारण इसे सत्य ठहराकर सही कर दिया गया है।

साथ-साथ सभापतिजी ने नेपाल के शनिश्चरे-श्री कृष्ण प्रणामी धर्म संरक्षण समिति, शनिश्चरे-झापा, नेपाल द्वारा भेजे हुए डेलिगेशन (प्रतिनिधि) में आज की सभा के समक्ष स्वयं सभापतिजी श्रीयुत टिकबहादुर तामाङ्गजी ने श्रीमान् बलिदास बस्नेत और श्रीमान् मेघराज बस्नेतजी को उक्त शालग्राम प्रमाण के निमित्त हस्तगत कर दिया है।

(सभापतिजी के हस्ताक्षर)

श्री टिकबहादुर तामाङ्ग

सभापति

कछुविल

रांगाजान गाँव पंचायत

(सभासदों के हस्ताक्षर)

अमरसिंह बस्नेत

श्री अगम सिंह गेलाल क्षेत्री

श्री कलबहादुर क्षेत्री

श्री तेजबहादुर क्षेत्री

श्री अमरबहादुर क्षेत्री

श्री सन्तवीर विश्वकर्मा
श्री कर्णबहादुर क्षेत्री
श्री जीतबहादुर तामाङ्ग
श्री जीवन शर्मा
श्री शशी शर्मा
श्री तिल बहादुर
श्री भरत शर्मा



श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्तान्तर्गत
के व्यवहारिक पक्ष और नेपाल अधिराज्य भरके नयाँ
मुलुकी ऐन की समानता विषय का मुख्यतः : आह्वान-
* व्यवहारिक पक्ष और नयाँ मुलुकी ऐन की *

समानता विषय का सूक्ष्म दिग्दर्शन-

‘नयाँ मुलुकी ऐन’ के मुख्यतः आह्वानः-

- (१) नारी और पुरुष के समानाधिकार ।
- (२) जात-पाँत, छुआ-छूत और अस्पृश्यता जैसे भयङ्कर रोगरूपी
आडम्बरों का निर्मूलीकरण ।
- (३) बहू-विवाह और बाल-विवाह द्वारा एक-दूसरे की जाति के
प्रति किये हुए अनाचारों का उद्धार एवम् जाति-जाति के
प्रति एकता समन्वयात्मक अधिकार ।
- (४) खाद्य-अखाद्य विवेकवत् अश्लील, फूहड़, धिन से बचते
हुए कुसंस्कार की पुनरावृत्ति होने से रोककर आज के
वैज्ञानिक युगानुकूल सभ्य समाज के साथ चलने, बचने
जैसे आचरणों को दिखाना और सभी को अपनाना ।
- (५) वर्ण-अवर्ण, आर्य-अनार्य एवम् दलीय तथा दलित वर्ग में
समानता लाने का अभियान ।

- (नयी सामाजिक मान्यताओं के मन्तव्य)

(कोलम्बो योजना की छब्बीसवीं परामर्शदात्री समिति की
बैठक में सम्बोधित भाषण के अन्तर्गत श्री ५ महाराजाधिराज
सरकार के मन्तव्य)

(१) आज के मनुष्य मात्र भूख से मुक्ति नहीं चाहते। वे तो अपनी नैसर्गिक प्रतिभा को खिलाते हुए एक सम्मानपूर्ण पेशे के माध्यम से आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव की भी चाहना रखते हैं।

- श्री ५ वीरेन्द्र

(२) धर्म मनुष्य को विभाजन करनेवाला न होकर एकता में आबद्ध करानेवाला होना चाहिये।

- श्री ५ वीरेन्द्र

(३) अतः 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्वायवे चाण्डालम् ।'
- (यजुर्वेद, ३०-५)।

श्रीमन्निजानन्द - व्यावहारिक पक्ष:-

कै विध यों उलटा,

वैराट नेत्रों अंध।

चेतन बिना कहे छूत लागे,

फेर तासों करे सनमंध ॥

एक भेष जो विप्र का,

दूजा भेष चंडाल ।

जाके छुए छूत लागे,

ताके संग कौन हवाल ॥

चंडाल हिरदे निरमल,

खेले संग भगवान ।

देखलावे नहीं काहूँ को,
गोप राखे नाम ॥
अंतराए नहीं खिन की,
सनेह सांचे रंग ।
एहेनिस दृष्ट आतम की,
नहीं देहसों संग ॥
विप्र भेष बाहेर द्रष्टि,
षट करम पाले वेद ।
स्याम खिन सुपने नहीं,
जाने नहीं ब्रह्म भेद ॥
उदर कुटुम्ब कारने,
उतमाई देखावे अंग ।
व्याकरन वाद विवाद के,
अरथ करे कै रंग ॥
अब कहो काके छुए,
अंग लागे छोट ।
अधम तम विप्र अंगे,
चंडाल अंग उदोत ॥

पेहेचान सबोंको देह की,
आतम की नहीं द्रष्ट ।
वैराट का फेर उलटा,
इन विध सारी सृष्ट ॥

- (निजानन्दीय आह्वान) ।

उक्त विषय में विवेकशील सुज्ञजनों द्वारा उदारवादी दृष्टि से निष्पक्ष निर्णयात्मक छान-बीन कर सकना ही यथा तथ्य वैदिक हिन्दुत्व है ।

अतः ब्राह्मण और चाण्डाल का भेद भाव आद्य सनातन नहीं ठहरता । ये एक ही शरीर के दोनों हाथ सदृश सिद्ध हैं । वर्ण-अवर्ण, जाति-पाँति तथा लिङ्गादि भेद भाव के प्रति कर्म के आधार पर परिकल्पित उच्च पद के तीक्ष्ण बुद्धिवाले दलीय वर्ग ने मन्द बुद्धिवाले के प्रति आद्य सनातन के पश्चात् जन्माया है । आज वह भयङ्कर रोगरूप होकर अंध-विश्वास रूढ़िवाद और कुल कट्टरता आदि मलाधार (खादाधार) में सनातनरूपेण धर्मवत् उर्वरता लेकर विकसित हो रहा है । कर्म शुद्ध चलन-व्यवहार सात्त्विकता, खाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय पदार्थ के विवेक, सभ्य-आचरण, सभ्य-शिष्टाचार के माध्यम से एकता समन्वयात्मक सूत्र में सभी ब्राह्मण ही ब्राह्मण सत्ययुग की तरह एक ही 'हंस' वर्ण के हैं । सम्पूर्ण विश्वात्माओं को उस सत्ययुग से भी पूर्व सनातन में समाविष्ट होना है । धर्ममय कर्म बिना के ब्राह्मण ही चाण्डाल और धर्मयुक्त कर्मवाले चाण्डाल ही ब्राह्मण सिद्ध हैं । कर्माधार में, वर्ण-अवर्ण, जाति-पाँति लिङ्गादि भेद भाव और

छुआ-छूत जन्माते जन्मे हैं। अतः विवेकवत् हटाने से हटाये भी जा सकते हैं। अतः सर्वात्माओं के निमित्त पालनीय धर्म एक ही है। पुनः अंतर्दृष्टिवत् देखें तो 'आत्मा सबकी एक ही है, धर्म सबका एक ही है, एक ही ब्रह्म के हम सब संतान हैं।' ऐसी एकेश्वरवादी सृष्टि में आए हम लोग धर्म के आधार पर आत्मा तथा आत्मा के आधार पर हो रहे शरीर और संसार-व्यवहार के संचालन को, साथ ही एकता समन्वयात्मक रूप को जानना-समझना और सम्पूर्ण चेतन मात्र में समान दयावन्त दृष्टि रखना ही मानव धर्म है। यदुक्तं -

अतः 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' (उपनिषद्) ।

अर्थात् ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। बिना ज्ञान के प्रेम उत्पन्न होता ही नहीं है। बिना प्रेम के श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो? पुनः श्रद्धा से तो स्वयं की निश्चितता होती है। यथा-

सत्त्वानुरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

- (गीता, १७/३) ।

अर्थात् आत्मीय सत्यता अन्तःकरण में होती है और अन्तःकरण के अनुरूप श्रद्धा प्रकट होने के कारण जिसमें जैसी श्रद्धा प्रकट हो, वह स्वयं वही है। तदुक्तं -

'यच्छ्रद्धः स एव सः ।'

पुनः भौतिकवाद अर्थात् राजनीति क्षेत्र और अध्यात्मवाद अर्थात् धर्मनीति ये दोनों एकेश्वरवादी एक ईश्वरीय सृष्टि के दो पहिये हैं। उक्त दोनों का सम्बन्ध शरीर और आत्मावत् एवम् नख और मांस की तरह है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यसर्थ

निखिल विश्वात्मा मात्र उभय पक्ष के प्रगति की आस्था लेकर जन्मसिद्ध आये हुए होते हैं और अन्त तक चाहते भी हैं। परन्तु विश्वात्मा मात्र प्रगति हेतु उभय मार्ग दर्शानेवाले दर्शन-शास्त्र के उपदेशकों के हाथ पर आधारित रहने के कारण, यदि उपदेशक वर्ग यथा तथ्य मार्ग दर्शाने में किसी कारणवश सदसत् विषय में एवम् दार्शनिक व्यावहारिक विषय में छल-कपट करें 'पढे जुबां काटे पीब लोहू बहे, झूठे फैल मुख सीधे कहे' तो सामाजिक अपराध के कारण मार्गदर्शक की जबान काट दी जायेगी। यसर्थ उन्हें अन्त्यावस्था में पीब और रक्तयुक्त जिह्वा-कटी अवस्था का दुःख भोगना पड़ेगा। अतः मार्गदर्शकों को युगानुकूल विश्वात्माओं की दोनों लौकिक और पारलौकिक आस्था पूर्ण कराने में धर्मशास्त्र के दार्शनिक और व्यावहारिक ज्ञान प्रति स्पष्ट उपदेश देना जरूरी है। अतः स्वार्थतावश सामाजिक आत्माओं के प्रति कुठाराघातरूपी अनर्थ नहीं होना चाहिए। पुनश्च-

एकने माटे सहस्त्र संहारे,

ते धर्म तमने कां नव तारे ।।

- (निजानन्दीय आह्वान) ।

उक्त प्रकार समाज की हजारों-लाखों आत्माओं के जीवन निर्वाह में धक्का पहुँचाकर सामन्तवादी होने से सहस्त्र आत्माएँ मरती हैं । ऐसे अनर्थ आत्म कर्म हर प्रकार से निषिद्ध हैं। इस प्रकार के कर्मरूपी धर्म से स्व-आत्मा क्यों नहीं तरेगी, निःशङ्क तरेगी। किन्तु स्वर्ग-वैकुण्ठ की ओर न तरे, फिर भी जमपुरी तो अवश्य ही पहुँचेगी। अर्थात् उक्त प्रकार के कर्म द्वारा दोनों ओर में

से एक ओर तो अवश्यमेव ही तरेगी। किस ओर तरना है, उसके लिए तो विवेकवत् कर्म भी करना पड़ेगा। यह तो स्वयं के ही हाथ में है।

यसर्थ हे आत्माओं! पृथ्वी को लूटकर भूमिदान करने जैसा प्रायश्चित्त करने से भूमिदान कराने जैसे कर्म को ही परित्याग करो!!

अब उपरोक्त विषयों का तुलनात्मक दृष्टि से पुनः विचार-विवेकपूर्ण निष्कर्ष निकालने का कार्य मध्यस्थ सुज्ञानों के ऊपर ही सौंप देते हैं।

❀ श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी ❀

- सम्प्रदाय पद्धति -

प्रमाण -

‘कृष्णज्ञानाधिदेवञ्च महादेव सनातनम् ।’

- (शास्त्रीय प्रमाण)।

उक्त प्रमाणानुसार ‘कृष्णज्ञानाधिदेव’ श्री कृष्ण ज्ञान के अधीश्वर महादेवजी को पार्वतीजीने निम्न प्रकार पूछा कि -

पुनर्ब्रूहि महादेव यथा स्याद्भजनोदयः ।

कं वा गुरुमुपासीत कथं ज्ञानोदयो भवेत् ॥

अर्थ: हे महादेवजी ! जिस प्रकार हृदय में भजन करने का भाव उत्पन्न होता है, उसका उपाय बता दीजिये। पुनः कैसे को गुरु बनाना-करना चाहिये, जिससे सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकें!

उक्त प्रकार पार्वतीजी की जिज्ञासापूर्ण इच्छा सुनकर उनकी शंका का समाधान करते हुए महादेवजी ने निम्न प्रकार से कहा है-
यथा-शिव उवाच-

पद्धति

ब्रह्मानन्द रसज्ञानां ब्रह्मज्ञानवतां सताम् ।
पद्धतिं ब्रह्मसृष्टिनां वक्ष्यामि शृणु सुन्दरि ॥
गोत्रमुक्तं चिदानन्दं ब्रह्मानन्दो हि सद्गुरुः ।
शिखा ज्ञानमयी प्रोक्ता सूत्रमक्षरूपकम् ॥
किशोरी परमं चेष्टं सेवनं पुरुषोत्तमम् ।
पातिव्रतमनन्यत्वं साधनं समुदाहृतम् ॥
वृन्दावनं नित्यमुक्तं विलास-सुखसंज्ञकम् ।
जाप्यं च युगलं नाम तारतम्यमनुस्मृतः ॥
ब्रह्मविद्या परादेवी देवो ब्रह्मसनातनम् ।
शाला गोलोक इत्युक्तो द्वारमूर्ध्वमुदाहृतम् ॥
स्वसंवेद्यः समादिष्टः फलं नित्यविहारकम् ।
दिव्यब्रह्मपुरं धाम परात्परमुदाहृतम् ॥
सद्गुरोश्चरणं क्षेत्रं सर्वशुद्धिकरं परम् ।
यमुना संज्ञकं तीर्थं मननं प्रेम-लक्षणम् ॥

श्रीमद्भागवतं प्रोक्तं श्रवणं सारमद्भुतम् ।
ऋषिः पत्नो महाविष्णुर्ज्ञानं जाग्रत्स्वरूपकम् ॥
आनन्दाख्यं कुलं प्राप्तं नित्येधाम्नि प्रकीर्तितम् ।
संप्रदायश्चिदानन्दो निजानन्दैः प्रकाशितः ॥
एवं पद्धतिराख्याता पुरुषोत्तमसंज्ञिका ।
वर्तितव्यं ततो भद्रे ! साधनैरात्मलब्धये ॥

- (माहेश्वर तन्त्र) ।

उक्त पद्धति को संस्कृत भाषा के अनभिज्ञ निजानन्दीय तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्तानुयायी भक्तजनों के निमित्त ज्ञान बोधार्थ भाषानुवाद करके निम्न प्रकार रखा गया है। इस सिद्धान्त के भक्तजन आज से आगामी ३०० वर्ष पूर्व से ही इसे अपनाकर चल रहे हैं।

✽ भाषा पद्धति ✽

सतगुरु ब्रह्मानन्द है,
सूत्र है अख्यर रूप ।
सिखा सदा इनसें परे,
चेतन चिद जो अनूप ॥
सेवन है पुरुषोत्तम,
गोत्र चिदानन्द जान ।

परम किशोरी इस्ट है,
पतिव्रत साधन मान ॥
श्री जुगल किशोर को जाप है,
मन्त्र तारतम सोए ।
ब्रह्म विद्या देवी सही,
पुरी नौतन मम जोए ॥
अठोत्तर सौ पख साखा सही,
साला है गौलोक ।
सतगुरु चरण को छेत्र है,
जाए जहाँ सब सोक ॥
सुख विलास मांहेँ नित ब्रन्दावन,
रिषी महाविस्नु है जोए ।
वेद हमारो स्वसं है,
तीरथ जमुना सोए ॥
सास्त्र श्रवण श्री भागवत,
बुद्धि जागृत को ज्ञान ।
कुल मूल हमारो आनन्द है,
फल नित्य विहार प्रमान ॥

दिव्य ब्रह्म पुर धाम है,
घर अक्षरातीत निवास ।
निजानन्द है सम्प्रदा,
ये उत्तर प्रस्न प्रकास ॥
धनी श्री देवचन्द्र जी निजानन्द,
तिन प्रगट करी सम्प्रदा येह ।
तिनथें हम यह लखी हैं,
द्वार पावें अब तेह ॥

उक्त सम्प्रदाय पद्धति माहेश्वर तन्त्रान्तर्गत प्रामाणिक है ।
अतः उपरोक्त पद्धति और सांप्रदायिक नियम, जो सिद्धान्त के
द्वारा धर्मानुयायी भक्तजनों को दिया गया है, निम्न प्रकारेण है ।

अनुकरणीय नियमादि :-

- १) आत्म-कल्याण के इच्छुक भक्तजनों को स्वभक्ति मार्ग का
चिह्नरूप कण्ठी-माला अवश्य धारण करना होगा । पुनः प्रातः
स्नान के पश्चात् तिलक (चन्दन) अवश्य लगाना पड़ेगा
तथा इष्ट के नाम का महाप्रसाद लेना अत्यन्त जरूरी है ।
फिर वर्णाश्रमानुसार हिन्दुत्व का चिह्न-चोटी रखना और
यज्ञोपवीत धारण करना ही पड़ेगा ।
- २) श्री कृष्ण द्वारा प्रदत्त षोडशाक्षर श्री तारतम महामन्त्र का
जाप १०८ बार अथवा २१ बार अर्थात् प्रातः और सायं ५-
५ बार अवश्यमेव जपना ही पड़ेगा । पुनः प्रातः और संध्या

वन्दनादि करना अनिवार्य है।

- ३) आचार-विचार का पालन मानसिक शुद्धि में सहायक होने के कारण कभी इसमें असावधानी नहीं होनी चाहिए।
- ४) अभक्ष्य और अपेया पदार्थ से सदैव अलग रहना होगा।
पुनः परद्रव्यहरण एवम् परस्त्रीगमनरूपी महापाप से हमेशा ही सावधान और नजदीक जाना भी वर्जित समझना चाहिए।
- ५) पुरुष को एक पत्नीव्रत और स्त्री को स्व-पुरुष के प्रति सतीत्व पालन करते हुए जब तक संभव हो, तब तक ब्रह्मचर्य धारण करना अत्यंत आवश्यक है। परन्तु निवृत्ति मार्ग के लोगों के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना अति अनिवार्य है।
- ६) शास्त्र एवम् गुरुपदेश के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना और स्व-इष्टदेव की 'अनन्य भक्तियोग' द्वारा प्रेम भाव से उपासना करना, परन्तु अन्य उपास्य देवों की कभी किसी प्रकार की न निन्दा और न स्तुति करना। यह भी बिलकुल वर्जित है।
- ७) प्रत्येक सदग्रन्थ के प्रति आदर भाव की दृष्टि रखना क्योंकि धार्मिक ग्रन्थादि आत्मा-परमात्मा मार्गदर्शक हैं।
- ८) सत्य धर्म-सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने का उत्तरदायित्व प्रवृत्ति और निवृत्ति इन उभय मार्ग के सुज्ञ भक्तजनों का अधिकार है। परन्तु धर्म सिद्धान्त के वैचारिक तथा व्यावहारिक ज्ञान से आद्योपान्त अवगत कराये बिना दीक्षा देकर सिद्धान्त मार्ग में प्रवेश कराना नितान्त वर्जित है। अतः बिना ज्ञान अर्थात् विपरीत प्रकार से प्रवेश कराना

पाप कर्म बन जाता है।

- ९) मनुष्य मात्र में मातृत्व भाव और सभ्यता का व्यवहार अनिवार्य है, परस्पर द्वेष-घृणा उत्पन्न होना महाअपराधयुक्त व्यवहार है।
- १०) मन, वचन और कर्म द्वारा किसी भी अवस्था में मानव मात्र में द्वेष भावना नहीं होनी चाहिये। यदि अनजाने में हो भी गयी हो, तो ज्ञान होते ही उससे क्षमायाचना करनी चाहिये। यदि उससे क्षमायाचना करने की हिम्मत न होती हो, तो परमात्मा से क्षमायाचना कर सदबुद्धि माँगना। तत्पश्चात् ऐसी भूल कभी न करना और हमेशा सावधानीपूर्वक रहना।
- ११) व्यावहारिक शुद्धि-पवित्रता हेतु कर्त्तव्य कर्म का शास्त्रीय मर्यादा अनुसार पालन करना जरूरी है। कर्म-संस्कारादि में जूठन, सूतक और व्रतबन्धादि मुख्य कर्म अनिवार्यता से पालन करना जरूरी है।
- १२) सत्य और परिश्रम द्वारा उपार्जित धन को यथाशक्ति धर्म-कार्य में लगाने से धर्मवृद्धि होती है और उपार्जित धन पवित्र होता है तदर्थ करना जरूरी है।
- १३) जीव मात्र में अहिंसा और दया भाव तथा मानव मात्र में मातृभावरूपी सम्बन्ध का शिष्टाचार न हो, तो दार्शनिक पक्ष सफल होना असम्भव है। अतः ध्यानपूर्वक सावधानी से आचरण करना जरूरी है।
- १४) नित्य प्रति श्रीमद्तारतम सागर को साक्षात् अक्षरातीत श्री कृष्ण का स्वरूप जानकर-समझकर उन्हीं वाङ्मयी ज्ञान-

मूर्ति की सेवा-पूजा, पठन-पाठन, मननादि और उपदिष्ट आज्ञा का पालन करना है।

- १५) स्व-इष्टदेव भगवान श्री कृष्ण के लीलामय ज्ञानग्रन्थ श्रीमद्भागवत का पूजन, श्रवण और मनन समय-समय पर करना अत्यंत आवश्यक है। कारण 'श्रीमद्भागवतं प्रोक्तं श्रवणं सारमद्भुतम्' अतः 'सास्त्र श्रवण श्रीभागवत, बुद्धि जागृत को ज्ञान'। स्व-सिद्धान्त की शास्त्र विषय में मुख्य मान्यता श्रीमद्भागवत महापुराण ग्रन्थ है।

इति-(अनुकरणीय नियम)।

उपरोक्त पद्धति और नियमादि विधानों का उलङ्घन करके मनमानी चलनेवालों को सिद्धान्त और मूलधर्म स्थान श्री ५ नवतनपुरी धाम की मान्यता नहीं रहेगी। अनुयायियों को सावधानीपूर्वक धर्माचरण पर चलना होगा।

**धर्माचार्य श्री १०८ महाराज
श्री ५ नवतनपुरी धाम**

यदुपरान्त उक्त सम्प्रदाय पद्धति और सम्प्रदाय सिद्धान्त प्रदत्त नियमादि के प्रचार-प्रसार और अनुकरणीय विषयों के विवेचनार्थ दो शब्द लिखने पर वर्तमान परिस्थितियों ने बाध्य कराया।

अतः 'विवरण पत्र' के लेखकों में से अग्रगण्य वेदज्ञजी को उपरोक्त पद्धतियुक्त नियमादि की प्रचारक पुस्तिकादि उन्हें अवगत कराने हेतु नहीं दी गई, ऐसा भी नहीं है तथा उन्होंने नहीं देखा अथवा नहीं समझा हो ऐसा भी नहीं। तत्पश्चात् विभिन्न अनूठेपन से गूथकर अवैदिक और अहिन्दू सिद्ध करने का प्रयत्न करनेवाली

प्रकाशित 'विवरण पत्र' नामक पुस्तिका प्रत्यक्ष प्रमाणरूप में सामने ही है। यसर्थ यह सिद्धान्त पूछने पर बाध्य हो गया कि उक्त पद्धति के वक्ता और श्रोता भगवान महादेव और पार्वतीजी के प्रति वैदिक वेदज्ञानों की वैमनस्यता की सनातनता किस वक्त से है? क्या माहेश्वर तन्त्र सहित महादेव और पार्वतीजी भी अवैदिक-अहिन्दू हैं? उनका ज्ञान ही अवैदिक-अहिन्दू है, ऐसा कहनेवाला वैदिक प्रमाण भी है क्या? हँ पुराणादि में महादेवजी श्री कृष्ण तत्त्व ज्ञान के ज्ञाताओं में सर्वाग्रगण्य हैं, ऐसा कहनेवाला प्रमाण निम्न प्रकार से मिलता है। यथा-

“कृष्णज्ञानाधिदेवञ्च महादेव सनातनम्”

अब उक्त पद्धति द्वारा धर्म पालन करते हुए चलनेवाले प्रणामी भक्तजनों की मान्यता अनूठी, अवैदिक और अहिन्दू है या फिर वैदिक वेदज्ञानों की सर्वज्ञ पदवीयुक्त अल्पज्ञता अथवा असंतुष्टता ही अनूठी है? यदुपरान्त श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्तानुयायी निम्न प्रकार की मान्यता क्यों लेकर चलते हैं, इस विषय में सूक्ष्म जानकारी के लिए उक्त पद्धति को और सूक्ष्म दृष्टि से देखना अत्यंत जरूरी है। कारण 'धर्मस्य सूक्ष्म गतिः' धर्म की वास्तविकता सूक्ष्म (गहनशील) होती है। जैसे -

आनन्द स्वरूप सद्गुरु, तारतम मन्त्र, स्वसंवेद, परात्पर अक्षरातीत ब्रह्मधाम, पतिव्रता साधन, अनन्योपासना भक्तियोग, पुरुषोत्तम सेवन, यमुना तीर्थ, श्रीमद्भागवत श्रवण, महाविष्णु ऋषि और संप्रदाय का नाम निजानन्द.... इत्यादि। उक्त भेद वैदिक वेदज्ञानों की दृष्टि में न आना ही भगवान महादेवजी तक पर अवैदिक और अहिन्दू होने का आक्षेप-आरोप लगाना नहीं है?

स्व-पालनीय सनातन धर्म में स्वरूप भी तो निश्चित होना चाहिये न, है कि नहीं ?

❀ वैदिक वेदज्ञानों को सुझाव ❀

१) 'विवरण पत्र' पुस्तिका में घोषित विषयों में से गोष्ठी में पारित किये गये प्रस्तावों तथा 'प्रणामीजनों हेतु हमारा सुझाव' के हठाग्रहपूर्ण होने के कारण पूर्व वेदवक्ता ब्रह्माजी और भगवान महादेवजी सहित अन्य विभिन्न ऋषि-महर्षियों के आप्तोपदेशरूपी ग्रंथों को सप्रमाण अवैदिक, अहिन्दू सिद्ध कर अखिल विश्व में नहीं तो कम से कम नेपाल अधिराज्य भर में तो घोषित कर दिखाना ही पड़ेगा।

२) उक्त घोषणा के पश्चात् श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्तान्तर्गत पूछे गये प्रश्नादि का समाधान करने के लिए कटिबद्ध होकर सूचना देनी होगी और समाधान करके विश्वास दिलाते हुए विशेषता के प्रति संतोषजनक विश्वास भी दिलाना पड़ेगा।

३) यदि वेदानुकूल ही मान्य होता है, तो -

(१) 'प्रज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' - (ऋग्वेद) ।

विशुद्ध ज्ञानजन्य आनन्द ही ब्रह्म है।

(२) 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' - (उपनिषद्) ।

ज्ञान ही मोक्ष का कारण है।

(३) 'आत्मज्ञानान्मोक्ष' - (कौलोपनिषद्) ।

आत्म-ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है।

(४) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' - (तैत्तिरीयोपनिषद्) ।

ब्रह्म सत्य और ज्ञानस्वरूप हैं ।

(५) 'ज्ञानमेव हि कारणम्' - (गरुड़ पुराण) ।

ज्ञान ही मोक्ष का निश्चित कारण है ।

(६) 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'- (गीता) ।

अध्यात्म-ज्ञान में नित्य स्थित तत्त्व-ज्ञान के अर्थ
स्वरूप परमात्मा का दर्शन ।

उक्त 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' सम्बन्धी प्रमाणादि को निस्तेज, अवैदिक सिद्ध करनेवाले सर्वोपरि से भी अकाट्य प्रमाण 'भाषा ही मोक्ष का कारण है'-ऐसा कहनेवाले अथवा सिद्ध करनेवाले प्रमाणादि तैयार करके सूचित जरूर करनाजी ! परन्तु प्रमाणादि आप्तोपदेश अन्तर्गत के ही मान्य होंगे, स्वमुख के नहीं !

४) भाषा और शब्द प्रयोग विषय को लेकर सर्वदेशीय ज्ञान सम्पन्न धर्म सिद्धान्त के प्रति षड्यन्त्रवत् शकुनि चाल चलनेवाले जन चाहे निजानन्दीय ही क्यों न हों, जब तक 'ज्ञानान्मोक्षैक कारणम्' सम्बन्धी प्रमाणादि को बहिष्कृत अथवा संशोधनादि करके 'भाषा ही मोक्ष का कारण है' कहने अथवा सिद्ध करनेवाले अकाट्य प्रमाण के साथ भाषावत् मुक्त जमात भी दृष्टांत हेतु तैयार कर निश्चित निष्कर्ष के प्रति सर्व समर्थन से घोषणा नहीं होती तब तक उक्त विषयों के षड्यन्त्रवादी लोग इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मान्य नहीं होंगे ।

❀ २०३२ साल आश्विन २७ गते की वार्ता ❀

वैदिक वेदज्ञजी से किसीने प्रश्न किया-

पण्डित! किसी का किसी के धर्म विषय के प्रति आरोप लगाना, निन्दा करना, मुझे तो अच्छा नहीं लगता है। फिर धर्म का ठेका किसी ने लिया हुआ भी तो नहीं है। सम्पूर्ण देश में ही अशांति फैला देनेवाले ऐसे वितण्डावाद की सृजना क्यों की गई है ?

उपरोक्त प्रश्न का समाधान करते हुए वैदिक वेदज्ञजी ने कहा - महाशयजी देखिए न ! मैं यहाँ के विद्वान वर्ग के बीच अग्रगण्य वैदिक वेदज्ञ हूँ। सभी मुझे सर्वाग्रगण्य मानते हैं। इस विपक्षी दल के प्रति तो मुझे कुछ भी कहना ही नहीं था और न कहना है ही। परन्तु महाशयजी! आपके माता-पिता कट्टर कर्मकाण्डी सनातन धर्म के, पुनः दान-धर्म के मर्मज्ञ ज्ञानी थे। उन्होंने वृद्धावस्था में पहुँचकर सनातन धर्म छोड़कर इन विपक्षी दल का धर्म ग्रहण किया। इस विषय में मुझे जो दुःख हुआ और चोट लगी है, क्या कहूँ? आप ही बताइये तो 'मेरे मुँह के अन्दर पहुँचा हुआ कौल किसी दूसरे ने हड़प लिया, तो मेरा सनातनत्व रहा ही कहाँ?' जो जितना नुकसान हुआ, वह भी मेरा ही, पुनः भविष्य भी तो देखना पड़ेगा, नहीं? यह तो महाशयजी! वंश में ही धक्का लगनेवाला विषय है। फिर आपके माता-पिता के उस धर्म में चले जाने के पश्चात् अन्यान्य भी बहुत भड़क रहे हैं। ऐसे या कर्मिष्ठ द्वारा विपक्षी धर्म में प्रवेश करने से 'हमारा सनातन बगीचा ही वीरान हो जायेगा।' पुनः सुनता हूँ कि अन्य वृद्ध सनातनियों ने भी वही धर्म ग्रहण कर लिया है। यह बात सुनते ही क्या कहूँ? इस विषय में मेरे दिल का दुःख-दर्द तो

मात्र मेरे सनातन भगवान ही जानते-समझते हैं। क्या अन्य कोई जान और समझ पायेगा ?

अफसोस, वेदज्ञ पण्डितजी ! यह तो बड़ी भारी आँटीरूपी फाँसी ही दिखाई देती है। पुनः विपक्षी दल का धर्म तो अहिंसक, शुद्ध-पवित्र, भक्तिमार्गी, आर्थिक खर्च में भी कम, आधुनिक देश-युगानुकूल, प्रत्यक्ष सिद्धान्तवाला है, ऐसा भी सुनता हूँ। तो अन्त में उनकी कैसी विजय होगी ?

नहीं महाशयजी ! यह विपक्षी दल का धर्म प्रत्यक्ष ही अकाट्य है। आपके माता-पिता ने वैसे ही वह धर्म थोड़े ही ग्रहण किया है ? किन्तु उनके द्वारा वह विपक्षी धर्म ग्रहण करने के कारण ही आज यह परिस्थिति आई है कि 'सनातन बगीचे' में ही भूकम्प-सा आ गया है। शास्त्रार्थ में भी धर्मनीति से ही विजय होगी, नहीं ? परन्तु राजनीति युक्त प्रबन्ध करना पड़ेगा, किया हुआ भी है। अतः बड़े नायब राजगुरुजी में भी अश्रद्धा प्रकट हो जाय, ऐसे पत्रादि व्यवहार भी किए गए हैं। उनके (राजगुरु के) द्वारा ही नेपाल अधिराज्य से ही बहिष्कृत करने का आह्वान करा सकेंगे, तभी हमारा कार्य सफल सिद्ध होगा। पुनः सदा के लिए 'सनातन बगीचे' की साथ ही साथ वृद्धि भी होती जायेगी। अतः मैदान में विपक्षी दल को उनका सिद्धान्त पेश करने का मौका भी देना नहीं होगा। यह प्रबन्ध होना, मुख्य रूप में जरूरी है !!

वेदज्ञ पण्डित महाशयजी ! यह तो अत्यन्त ही खतरनाक दिखाई देता है न ! कारण, सुनने में आया है कि विपक्षी दल के धर्मानुयायी अधिराज्य भर में लाख-सवा लाख की संख्या में फैले

हुए हैं। वैसे आज्ञा-घोषणा कराने जाय, तो देश में ही क्रांति शुरू हो जायेगी। सभी विपक्षी अनुयायी जन एक ही आवाज उठाकर खड़े हो जायेंगे, तब तो राजनैतिक समस्या खड़ी हो जाएगी। फिर पालनीय धर्म के प्रति बलात् शासन जमाने का नियम राज-कानून में भी नहीं है। हर कोई, कोई भी धर्म स्वतन्त्रता से पालन कर सकते हैं, ऐसी कानून में घोषणा है। बड़े-बड़े व्यक्ति भी विपक्षी धर्मानुयायी हैं, ऐसा भी सुनने में आ रहा है। ऐसे कतिपय खतरनाक विवाद प्रत्यक्ष सामने दिखाई दे रहे हैं। सारे देश में ही अशांति फैलने की संभावना है।

अतः यदि ऐसा है, तो आपके आगे एक सविनय विनती करता हूँ। बोलिये वेदज्ञ पण्डितजी! 'आप अपने माता-पिता को समझाकर विपक्षी दल का धर्म छुड़वा दीजिये। मैं प्रायश्चित्त करवाकर पूर्व सनातन में उन्हें वापस ले लूँगा। ऐसा करने से बगीचे के अन्य श्रद्धालुओं की रक्षा भी होगी और हाथ में से छूटा हुआ कौल भी ठिकाने आ जायेगा। शास्त्रार्थ की योजना की जरूरत ही क्या? आपके माता-पिता द्वारा प्रायश्चित्त करके पुनः सनातनी धर्म में आने पर, जिस धर्म को लेने पर प्रायश्चित्त करना पड़े, ऐसा धर्म ही कौन लेगा? यसर्थ शास्त्रार्थ की योजना भी बन्द हो जायेगी और देश में भी शान्ति स्थापित हो जायेगी।

यदुपरान्त वैदिक सनातन वेदज्ञजी ने निष्कर्ष हासिल कर लिया कि-वेदज्ञ पण्डितजी! धर्म-मार्ग में भी इतनी बड़ी व्यूह रचना! ऐसा खिलवाड़!! मेरे माता-पिता द्वारा ठहराकर अपने मन पसंद लिये हुए धर्म के साथ, वह भी वृद्धावस्था में? पुनः धर्म लेने के पश्चात् विश्वासपूर्वक शांति धारण कर भजन-भक्ति में एकनिष्ठ हुए जनों को

अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये, आपके कहे अनुसार विचलित करके पूर्व सनातन में मरोड़ने का अधर्म कार्य मेरे द्वारा कदापि नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जवाब मिलते ही वार्ता समाप्त, वेदज्ञजी निराश!!

नोट: उक्त वार्ता की तरह अन्य भी बहुत बातें हैं। जैसे वेदज्ञजी से ही अवगत है कि सहोदर अन्तर्गत अपने ही व्यक्ति को रातभर समझाकर हजार रुपये देने की बाजी में बाँधकर देखने के लिए भेजा गया था। दूसरा तेहथुम पाँचथर का फिरन्ता सन्यासी साधु, जसमनि धर्म के भाई हरिदिल चापागाई को लगाए हुए प्रचार-प्रसार करने के विषयादि, जो उदाहरणीय हैं, वे समय के लिए सुरक्षित रखे गए हैं।

- लेखक

पं. श्री. दीनदयाल

श्री कृष्ण प्रणामी मंदिर

धरान - १०

❀ अन्त्योपसंहार ❀

सुज्ञ वैदिक वेदज्ञजनों हेतु,

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी धर्म सिद्धान्त के 'दार्शनिक पक्ष विषयक निर्णयात्मक मान्यता देनेवाले धर्मग्रन्थादि को बहिष्कृत और उसमें संशोधनादि करने-कराने' के धर्म की जिम्मेदारी आप लोगों को ही देते हैं। क्योंकि ऐसे प्रत्यक्ष धर्म-मार्ग के सनातन सिद्धान्त चलाने जैसे कर्म से यह सिद्धान्त तो डरता है।

कारण-

श्रीमद्भागवत महापुराण के अन्तर्गत स्कन्ध ५/२६ के १ से ४० श्लोक तक अपवित्र, मानव मात्र को सुनते ही अपने कान बन्द

करने पड़े, सनातन धर्म में ही बाधा पहुँचानेवाले २८ प्रकार के नर्क कुण्डों का वर्णन (श्री लालदास कृत बीतक साहेब के हरिद्वार प्रसंग में से) किया गया है। इस वर्णन में देखो..... देखो.....! स्वर्ग-वैकुण्ठ, ब्रह्म-ब्रह्मधाम तथा परलोक तक का खण्डन किया गया है। यसर्थ वह बहिष्कृत करना नहीं पड़ेगा? जरूर करना ही पड़ेगा, नहीं? और विष्णु पुराण में तो ८४ नर्क कुण्डों द्वारा सनातन धर्म का खण्डन किया गया है, तो क्या विष्णु पुराण अमान्य नहीं है? पुनः श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ७/५ के ५७ वे श्लोकवाले अध्याय में पिता हिरण्यकशिपु द्वारा पुत्र प्रह्लाद को मारने हेतु किए गए षड्यन्त्रपूर्ण प्रयत्न का वर्णन है। इससे पिता-पुत्र विषय एकता-समन्वय में बाधा पहुँचानेवाले, धर्म असहिष्णुता और अराष्ट्रीयता यहाँ तक कि अहिन्दू के वर्णनवाले अध्याय को ही बहिष्कृत करके देश-काल और परिस्थिति के अनुकूल बनाने का है या शिशुपालवत् बकवास का अनुकरण करते हुए प्रयोग क्षेत्र में उक्त तीन काण्डों और 'विवरण पत्र' पुस्तिका की तरह धर्मवत् पालन करने का है?

देवी भागवत को तो यथाशीघ्र अमान्य ही कह देना चाहिए क्योंकि उसमें तो कलियुग के वैदिक ब्राह्मणों को स्पष्ट ही राक्षस कहा गया है। पुनः निर्णयसिन्धु के पाताल खण्ड कलिर्वज्य प्रकरण को तुरन्त ही निकालना पड़ेगा क्योंकि उसमें कर्मकाण्डरूपी धर्म को कलियुग में वर्जित कहकर बताया गया है। अतः मुख्यतः माहेश्वर तन्त्र को ही अहिन्दू ग्रन्थ कहते हुए बड़े नायब गुरुजी द्वारा ही अधिराज्य भर में यथाशीघ्र घोषणा करवायेंगे या अन्य कुछ करेंगे? क्योंकि उसमें तो श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय सिद्धान्त ही बताया गया है। उक्त प्रकार से करो-कराओ, तो

विपक्षी दल स्वाहा होगा। तब विजय आपके हाथ में, नहीं? पुनः गरुड़ पुराण तुरन्त छिपाना पड़ेगा क्योंकि उसमें तो और सीधा ही कहा गया है कि कर्म द्वारा मुक्ति नहीं है। श्री कृष्ण की भक्ति करो, ऐसी घोषणा की गई है। उक्त धर्म-ग्रन्थादि का बहिष्कार करके वर्तमान सनातन धर्म-रक्षा करनेवाला धर्म सिद्धान्त अब शीघ्रातिशीघ्र बहिष्कार की घोषणा करके स्वदेश में एकता कायम करेगा क्या?

श्रीमन्निजानन्द तथा श्री कृष्ण प्रणामी सिद्धान्त न तो किसी धर्म-शास्त्रादि को बहिष्कृत अथवा संशोधन आदि करने के पक्ष में है, न कराने के ही पक्ष में दौड़-धूप करता है। हँ! कलिकाल गुणग्रस्त सिद्धान्तवाद यदि टूट पड़े, तो यथा तथ्य रखते हुए कर्म के धुरन्धर मर्मज्ञ-वेदज्ञजनों द्वारा न समझे हुए विषयों को सप्रमाण प्रश्नादि पूछते हुए निर्णयात्मक विषय दृढ़ कराने के पक्ष में हमेशा तत्परतापूर्वक निश्चल एवम् शान्तिपूर्वक तटस्थ रहता है।

‘सुज्ञेषु किं बहुना’ - इति शुभमस्तु ।

॥ “विवरण पत्र की समीक्षा” नामक पुस्तक समाप्त ॥

नोट: ३१ प्रश्नादि हाथ में न आने के कारण क्रमबद्ध उत्तर नहीं दे पाया। अतः प्रश्नकर्ता स्वयं इस धर्म सिद्धान्त और सिद्धान्तान्तर्गत मान्यताओं में से अपने-अपने प्रश्नों का समाधान करें। आशा रखते हैं कि सुज्ञजन उपरोक्त सिद्धान्त और सिद्धान्त द्वारा जिन मान्यताओं को दर्शाया गया है, उसी से शंका-उपशंकादि का निवारण कर लेंगे।

- इति:-

। सर्वाधिकार स्वरक्षित ।

॥ श्री परब्रह्मणे नमः ॥

विवरण पत्र की समीक्षा



प्रकाशक -

श्री कृष्ण प्रणामी मन्दिर

धरान - १०.